UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182431

UNIVERSAL
LIBRARY

Call No. H·81·04 Accession No. G·H654

Author C 49 M

Title

This book should be returned on or before th
last marked below.

मध्यकालीन प्रेम-साधना

परशुराम चतुर्वेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०

साहित्य भवन लिमिटेड
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९५२ ई०

तीन रुपया

राजेन्द्रदत्त बाजपेयी
हिन्दी साहित्य प्रेस,
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९५२ ई०

तीन रुपया

राजेन्द्रदत्त बाजपेयी
हिन्दी साहित्य प्रेस,

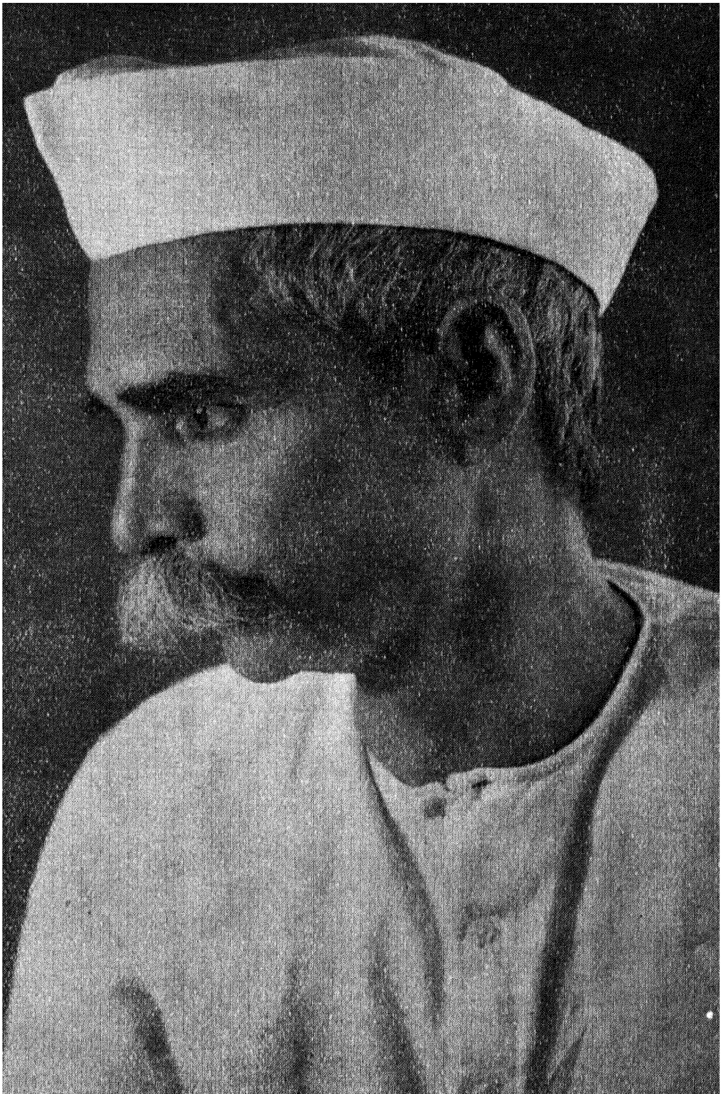

परशुराम चतुर्वेदी

प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक मेरे समय-समय पर लिखित दस निबंधों का एक संग्रह है और इनमें से अंतिम को छोड़कर, सभी प्रकाशित हो चुके हैं। अंतिम निबंध इनमें सबसे बड़ा है और शेष के विषय से भी संबंध रखता है इसलिए संग्रह का नामकरण भी उसीके नामानुसार हुआ है।

प्रेम-साधना अधिकतर प्रेमलक्षणाभक्ति से संबंध रखती है और उसमें प्रायशः दाम्पत्यभाव का ही समावेश किया जाता है। संग्रह के अंतिम निबंध में भी इसी धारणा के अनुसार किया गया उसका वर्णन मिलेगा। प्रेम वस्तुतः एक ऐसा भाव है जो किसी अलौकिक वा अद्वितीय प्रेमास्पद के प्रति होता हुआ भी एक से अधिक रूप धारण कर सकता है और वह कभी-कभी वात्सल्यभाव, सख्य-भाव एवं दास्यभाव के साथ भी उसी प्रकार पाया जा सकता है जैसा दाम्पत्य-भाव के साथ देखा जाता है। किंतु जैसा मैंने अन्यत्र भी दिखलाया है, इन तीनों प्रकार के भावों के अतर्गत प्रेम के उस उन्मद एवं उन्मुक्त रूप के दर्शन नहीं होते जो दाम्पत्यभाव में रहा करता है। वात्सल्यभाव का आलंबन शिशु-रूप हुआ करता है जो माता-पिता की दृष्टि से स्नेह का सर्वोत्तम आधार है। किंतु माता पिता तथा उनके स्नेह-पात्र शिशु का संबंध एक समान धरातल का नहीं होता और न दोनों के पारस्परिक भावों में कभी एकरूपता आ पाती है। किसी इष्टदेव के प्रति व्यक्त किये जाने पर तो यह और भी विलक्षण रूप ग्रहण कर सकता है। वात्सल्यभाव की प्रेम-साधना केवल वहीं तक सफल एवं स्वाभाविक कही जा सकती है जहाँ तक वह इष्टदेव की बाल-लीलादि के वर्णन से संबंध रखती है। ऐसे किसी माध्यम के बिना इसका उत्कृष्टरूप में दीख पड़ना बहुत कम हो सकता है। सूरदास ने भी वैसे माध्यम से ही काम लिया है।

दास्यभाव के साथ पाये जाने वाले प्रेम के विषय में भी वात्सल्यभाव वाली ही बातें कहीं जा सकती है। इन दोनों की दशाओं में सबसे उल्लेखनीय अंतर यह है कि दास्यभाव में एक बहुत महत्त्वपूर्ण अंश प्रपत्ति वा शरणागति तत्त्व का भी आ जाता है। शरणागति तत्त्व आत्मसमर्पण का ही अन्यतमरूप है जो प्रेम-भाव के के लिए अत्यंत आवश्यक है यही कारण है कि दास्यभाव की भक्ति में प्रेम का अंश बहुधा बड़े सुन्दर ढंग से समाविष्ट कर लिया जाता है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' में ऐसे दास्यभाव के कुछ उदाहरण भी उपस्थित किये हैं। वे तो एक स्थल पर इस प्रकार भी कहते हैं—

प्रभु व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रकट होहि मैं जाना॥

और, वे अपने विषय में कहते हैं—

चहौं न सुगति सुमति संपति कछु, रिधिसिधि विपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग रामपद, बढ़ु दिन दिन अधिकाई॥

उन्होंने 'अरण्यकांड' के अंतर्गत सुतीक्ष्ण की प्रेमलक्षणाभक्ति का जो परिचय दिया है वह भी इसी प्रकार का है और उसमें उन्माद तक की दशा है—

निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्याना। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु विदिसि पंथ नहि सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहि बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करहिं गुन गाई॥
अविरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखें तरु ओट लुकाई॥

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने उस काव्य के अंत में अपने विषय में यहाँ तक कहा है—

कामिहि नारि पिआरि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम॥

परंतु यहाँ पर भी उनका भाव लगभग उसी प्रकार का जान पड़ता है जैसा ब्रह्मानंद के विषय में "तद् यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तः" आदि के द्वारा 'बृहदारण्यक उपनिषद्' के अंतर्गत बतलाया गया है और जो वस्तुतः अनुभूति के सादृश्य की ओर ही संकेत करता है।

इसी प्रकार सख्यभाव के साथ पाये जाने वाले प्रेम के विषय में भी कहा जा सकता है। सख्यभाव में धरातल की समानता अवश्य दीखती है श्रीकृष्ण के प्रति अर्जुन अथवा उद्धव का सख्यभाव प्रसिद्ध है और सुदामा के प्रेम-भाव के विषय में भी बहुधा यही कहा जाता है। किंतु 'श्रीमद्भगवद्गीता' तथा 'श्रीमद्भागवत' से पता चलता है कि क्रमशः अर्जुन तथा उद्धव भी सदा एक समान धरातल पर नहीं रह सके। अर्जुन श्रीकृष्ण की महत्ता से भयभीत होकर उनसे क्षमा की याचना करने लगते हैं और उद्धव की भी प्रायः वही दशा देखने को मिलती है। शुद्ध अमिश्रित प्रेम की समरूपता वहाँ पर भी दृष्टिगोचर नहीं होती। मध्यकालीन हिंदी कवियों में रसखान एव घनानन्द के नाम इस संबंध में लिये जाते हैं और इन दोनों के विषय में प्रसिद्ध है कि उनका प्रेम लौकिक क्षेत्र में आरंभ होकर अंत में अलौकिक बन गया था। इस कथन का आधार उनकी उपलब्ध कविताओं की शैली में भी ढूंढा जा सकता है। इन दोनों भक्त कवियों ने अपने प्रेमास्पद श्रीकृष्ण को सखा-भाव मे आवश्य देखा है, किंतु इनके प्रेमपरक सख्यभाव की अभिव्यक्ति भी दाम्पत्यभाव की गंभीरता अथवा उसके गाढ़ेपन के स्तर तक पहुँचती हुई नहीं जान पड़ती। उसमें कुछ ऐसी बातों का अभाव है जो केवल स्त्री एवं पुरुष के पारस्परिक संबंध में ही संभव है और जिनके बिना यह भाव भी उस उच्चतम कोटि तक पहुँचने से रह जाता है।

शेष निबंधों में भिन्न-भिन्न साधकों अथवा भिन्न-भिन्न प्रेम-पद्धतियों के परिचय दिये गए हैं। ये सभी मध्यकालीन कहे जा सकते हैं और प्रेम-साधना भी हमारे यहाँ केवल इसी काल में पूर्ण रूप में विकसित और प्रसिद्ध हुई थी। प्राचीन काल में प्रेम का रूप बहुत कुछ लौकिक ही रहता आया और वह भक्ति के उतना निकट नहीं आ सका था। फिर आधुनिक काल में भी वह क्रमशः अलौकिक क्षेत्र से लौकिक क्षेत्र की ओर ही बढ़ता चला आया है और वर्त्तमानकाल में उसका एक रूप वैसा भी हो गया है जिसे 'प्लैटॉनिक लव' कहा करते हैं। यह प्रेम स्वरूपतः अलौकिक एवं लौकिक प्रेम के मध्यवर्ती क्षेत्र का भाव है और इसी कारण इसमें दोनों का समन्वय-सा दीखता है। एक

ओर जहाँ यह किसी यौन-संबंध पर अधिक आश्रित नहीं वहाँ दूसरी ओर इसके लिए किसी इष्टदेव की भी आवश्यकता नहीं पड़ती।

इस निबंध-संग्रह को प्रस्तुत करने में जिन सज्जनों से मुझे सहायता मिली है उनके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। प्रकाशित निबंधों को मैंने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं से लिया है और उनमें यत्र-तत्र कुछ फेर-फार भी कर दिये हैं। बाउल प्रेमी के भावपूर्ण चित्र के लिए मैं उसके चित्रकार श्री राम-मनोहर सिंह, स्नातक (कलाभवन, शांतिनिकेतन) का ऋणी हूँ जिनके सौजन्य से यह मुझे इस पुस्तक के लिए उपलब्ध हुआ है और जिसके उनसे प्राप्त करने का श्रेय श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी को है।

बलिया
श्रावण कृष्ण ७,
सं० २००६

परशुराम चतुर्वेदी

विषय-सूची

१. तामिल प्रांत के आड़वार भक्त कवि ... १

२. वैष्णवों का सहजिया संप्रदाय ... २२

३. बाउलों की प्रेम-साधना ... ३८

४. मीराँबाई की प्रेम-साधना ... ५१

५. मीराँबाई की भक्ति का स्वरूप ... ७५

६. जायसी और प्रेमतत्त्व ... ८३

७. हित हरिवंश के 'हित चौरासी' पद ... ११३

८. नन्ददास की 'रूप मंजरी' ... १२८

९. प्रेमी भक्त 'रसखान' ... १४६

१०. मध्यकालीन प्रेम-साधना ... १६७

तामिल प्रांत के आड़वार भक्त कवि

[१]

'आड्वार' तामिल भाषा का शब्द है और उसका तात्पर्य कदाचित् किसी भी ऐसे महात्मा से है जिसने ईश्वरीय ज्ञान एवं ईश्वरीय प्रेम के समुद्र में अवगाहन कर लिया हो और जो निरंतर परमात्मा के ही ध्यान में मग्न रहा करता हो। परंतु, तामिल प्रांत की ही एक परंपरा के अनुसार अब इसका प्रयोग केवल उन वैष्णव भक्तों के ही लिए किया जाता है जो आज से लगभग डेढ़ सहस्र वर्ष पहले उस प्रदेश के विभिन्न स्थानों में उत्पन्न हुए थे और जिनकी संख्या बारह की थी। इन भक्तों का कोई एक विशेष सांप्रदायिक क्रम नहीं था और इनकी जन्मभूमि तथा कर्मक्षेत्र का प्रसार भी वर्त्तमान मद्रास नगर के दक्षिण कांची वा कांजीवरम् से लेकर सुदूर तिनेवली ज़िला तथा त्रावंकोर राज्य के क्विलन बंदरगाह तक चला जाता है। किंतु इन सभी की आध्यात्मिक मनोवृत्ति प्रायः एक प्रकार की थी और, एक ही भक्ति-भावना से प्रेरित होकर, इन्होंने एक अपूर्व ढंग के भगवदाराधन तथा विश्व प्रेम का, उन दिनों, प्रचार किया था। ये अधिकतर अशिक्षित वा केवल अर्द्ध शिक्षित मात्र थे, किंतु इन सभी ने शुद्ध एवं पवित्र जीवन व्यतीत किये और, अपनी आध्यात्मिक अनुभूति के आधार पर, इन्होंने तामिल भाषा के माध्यम द्वारा अनेक सुंदर पदों की रचना की। भारत की भक्ति-परंपरा के विकास-प्रवाह में इन आड़वार भक्तों को एक महत्त्व पूर्ण स्थान दिया जाता है और सुदूर दक्षिण भारत के अंतर्गत में आज भी बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते हैं। कई तीर्थ स्थानों में इनकी मूर्तियां देव प्रतिमाओं के साथ पूजी जाती हैं और श्रीरंगम् जैसे अनेक नगरों के भक्त, इनकी रचनाओं के संग्रह को 'तामिल वेद' का नाम देकर उसका पाठ वेदपाठ से भी पहले किया करते हैं।

भारत की भक्ति-परंपरा का मूल स्रोत प्रायः वैदिक ऋचाओं में ही ढूँढ़ा

जाता है यद्यपि इधर के कतिपय विद्वानों ने उसे वैदिक युग के भी पहले से आती हुई द्रविड़ भावधारा से जोड़ने की चेष्टा की है और इसके लिए मोहेन-जो-दड़ो आदि से प्रमाण दिये हैं। वैदिक समय के भारतीय आर्य विविध प्राकृतिक वस्तुओं के अंतर्गत भिन्न-भिन्न देवताओं की कल्पना किया करते थे और, उन्हें प्रसन्न रखने के उद्देश्य से यज्ञादि का अनुष्ठान करते हुए, सुखमय जीवन व्यतीत करने की इच्छा से उनकी स्तुति एवं प्रार्थना भी करते थे। उनके ऐसे उद्गारों में प्रायः वैसी ही प्रेमभरी उक्तियां लक्षित होती हैं जो समस्त चराचर में परमात्म दर्शन करने वाले महान् व्यक्तियों की वाणी में, उनके हृदय में पूर्ण शांति आ जाने पर; फूट निकलती हैं। "द्यौ मेरे पिता है", "अनंत अदिति माता-पिता एवं पुत्र के समान है" "हे पिता द्यौ मेरे सभी दुःखों को दूर करो" तथा "जिस प्रकार पिता अपने पुत्र के प्रति कृपा भाव रखता है उसी प्रकार दयालु रूप में मुझे प्राप्त हो" इत्यादि भावों को, व्यक्त करने वाले अनेक उद्धरण दिये जा सकते हैं और यह बात भी सिद्ध की जा सकती है कि उपनिषदों के समय में भी यह सिद्धांत प्रचलित था कि जीवात्मा परमात्मा के ही अवलंब पर आश्रित है तथा परमात्मा के ही द्वारा जीवात्मा मुक्त भी हो सकता है।[1] इसके सिवाय वासुदेव कृष्ण ने जो कर्मयोग संबंधी उपदेश अपने मित्र और अनुयायी अर्जुन को कुरुक्षेत्र की संग्राम-भूमि में दिये थे उनमें भी उन्होंने भक्ति पक्ष को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया था और उसका ध्यान बार बार इसी बात की ओर आकृष्ट किया था "मुझमें अपना मन लगा, मेरा भक्त हो जा, मेरा भजन एवं वंदना कर; मैं तुझसे प्रतिज्ञा पूर्वक बतलाता हूं कि इस प्रकार तू मुझमें ही आ मिलेगा, क्योंकि तू मेरा प्यारा भक्त है।"[2] उनके उपदेशों के ही आधार पर

---

[1] डा० रामकृष्ण भांडार कर; वैष्णविज़म, शैविज़म एंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स पृष्ठ ४०

[2] मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे॥
(श्रीमद्भगवद्गीता १८-६५)

'एकांतिक धर्म' की परंपरा चली जो क्रमशः 'सात्वत,' 'भागवत' तथा 'पांचरात्र धर्म' भी कहलायी और जो, अंत में, वैदिक देवता विष्णु नारायण को, अपने उपास्य देव कृष्ण की जगह देकर नवीन 'वैष्णव धर्म' में परिणत हो गई। यह समय ईसा मसीह के जन्मकाल से कुछ ही दिनों इधर-उधर रहा होगा क्योंकि इसके तथा कृष्ण गोपाल विषयक इसके एक अन्य रूप के अस्तित्व का पता हमें गुप्तकाल के कुछ पहले से ही मिलने लगता है और गुप्त सम्राटों के राज्यकाल में हम वैष्णव धर्म को पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित पाते हैं।[1] गुप्तकाल में यह धर्म भारत के प्रायः कोने-कोने तक फैल गया और गुप्त सम्राटों तक ने अपने को 'परम भागवत' कहलाने में धन्य माना। किंतु गुप्त साम्राज्य की अवनति के साथ-साथ, उत्तरी भारत में, इसका भी ह्रास आरंभ हो गया और इसका प्रधान केंद्र उधर से स्थानांतरित होकर क्रमशः दक्षिण भारत की ओर चला आया।

नासिक में पाये जाने वाले 'नानाघाट' के शिलालेख से पता चलता है कि 'भागवतधर्म' अपनी जन्मभूमि मथुरा प्रदेश से चलकर ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी तक ही, दक्षिणी भारत में प्रवेश कर गया था। फिर कृष्णा जिले के 'चाइना' नामक शिला लेख से यह भी प्रकट होता है कि, ईसा के पीछे दूसरी शताब्दी तक, यह और भी दक्षिण की ओर बढ़ गया तथा, इसी प्रकार, प्रयाग की सम्राट समुद्रगुप्त वाली प्रशस्ति में कांजीवरम् के विष्णु गोप का नाम आने से इसके, उक्त सन् की चौथी शताब्दी तक, सुदूर दक्षिण तक प्रचलित हो चुकने का अनुमान किया जा सकता है।[2] उस ओर वर्त्तमान तामिल प्रांत के निवासी ईस्वी शताब्दी के आरंभ होने के बहुत पहले से ही भलीभाँति सभ्य थे और कला, उद्योग, वाणिज्य आदि बातों में वे बहुत कुछ उन्नति कर चुके थे। उनका अपना धर्म उत्तरी भारत के तत्कालीन हिंदू धर्म से भिन्न था, किंतु मौर्यकाल के अनंतर उस पर क्रमशः बौद्ध एवं जैन धर्मों का प्रभाव पड़ने लगा था और आड़वार भक्तों के आविर्भाव काल तक ये ही दो धर्म वहाँ पर मुख्य धर्मों के

[1] प्रो० राय चौधुरी : अर्ली हिस्ट्री आफ् दि वैष्णव सेक्ट 'पृष्ठ १०

[2] वही. पष्ठ १०८

रूप में दीख पड़ने लगे थे। आड़वारों के कारण इन दोनों के प्रचार कार्य में बहुत बड़ी बाधा पड़ी और फिर शैव धर्म का भी वहाँ, वैष्णव धर्म के सहयोग में होकर, इनके विरुद्ध आंदोलन आरंभ कर देना इनके लिए अंत में प्राण घातक-सा सिद्ध हो गया। डा० भांडारकर का अनुमान है कि दक्षिण की ओर भागवत एवं वैष्णव धर्म का प्रवेश, ईसा की प्रथम शताब्दी के ही लगभग हो गया होगा। तीसरी शताब्दी के, एक नवप्रकाशित 'परिपड़ल' नामक तामिल काव्य संग्रह से यह भी पता चलता है कि उक्त समय तक, पांचरात्रों की आगमाश्रित विधियों के अनुसार की जाने वाली पूजा का प्रचार सुदूर मथुरा वा मदुरा तक भी फैल गया था।[1]

[२]

आड़वारों के आविर्भाव काल, उनके जीवनवृत्त एवं सिद्धान्तों के संबंध में प्रकाश डालने वाले प्रमाणों में से अभी तक केवल दो-तीन का ही पता चलता है जिनमें से सबसे इधर की उपलब्ध वस्तु आचार्यों के समय में रची गई गुरु-परंपरा संबंधी पुस्तकें हैं। इनके द्वारा तत्कालीन आचार्यों से लेकर कतिपय आड़वारों तक के संक्षिप्त परिचय, बहुत कुछ काल्पनिक एवं पौराणिक ढंग से लिखे गए, मिलते हैं और दूसरे प्रकार के प्रमाण पत्थरों वा धातुओं पर अंकित कुछ समसामयिक लेखादि हैं जिनसे इस विषय के तुलनात्मक अध्ययन में सहायता मिलती है। परंतु इन सबसे उपयोगी वस्तु उस तीसरे प्रकार का प्रमाण है जो 'नाडायिर प्रबंधम्' अथवा आड़वारों की रचनाओं के 'चार सहस्र का संग्रह' रूप में पाया जाता है और जिसका संपादन तथा प्रचार सर्वप्रथम, सन् ६२० ईस्वी तक जीवित रहने वाले आचार्य नाथमुनि ने किया था। इस ग्रंथ में संगृहीत पदों के आधार पर इन आड़वारों के धार्मिक दार्शनिक एवं सामाजिक सिद्धान्तों का परिचय मिल जाता है। फिर भी इनके द्वारा हमें आड़वारों के समय तथा जीवनचरित के ऐतिहासिक विवेचन में प्रायः कुछ भी सहायता नहीं

[1] डा० कृष्णस्वामी ऐयंगर : 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ वैष्णविज्म इन साउथ इंडिया' पृष्ठ ८१-६१

मिलती और इसी कारण इस विषय के विद्वानों में अभी तक मतभेद चला आता है। वैष्णवों की प्रचलित परंपरा इनका समय यदि ईस्वी सन् के पूर्व ४२०३ से लेकर २७०६ तक मानती है तो दूसरी ओर इन्हें पाश्चात्य विद्वान्, रामानुजाचार्य के मृत्यु-काल अर्थात् सन् ११३७ ईस्वी [पीछे] के भी अनंतर प्रकट होने वाले ठहराते दीख पड़ते हैं। किंतु तथ्य कदाचित् और ही है। सभी बातों पर विचार करते हुए अब, केवल दुराग्रही दलों को छोड़कर, कदाचित् किसी को भी इसमें आपत्ति नहीं हो सकती कि ये आड़वार भक्त रामानुजाचार्य क्या नाथमुनि तक के भी पूर्ववर्ती अवश्य रहे होंगे।[1]

परन्तु उपर्युक्त निर्णय को स्वीकार कर लेने पर भी इन आड़वारों का क्रम समयानुसार निर्धारित करना कठिन बना रहता है। कहते हैं कि रामानुजाचार्य ने अपने शिष्य पिल्लन को नम्म आड़वार के सहस्र पदों पर टीका लिखने का भार सौंपा था और उसने इस कार्य का संपादन करते समय एक संस्कृत श्लोक द्वारा सभी आड़वारों के नाम गिनाकर उनकी वंदना की थी। श्लोक में आये हुये आड़वारों के नाम इस प्रकार दिये जा सकते हैं[2] जैसे, भूतम् वा भूतत्तार, सर वा प्वायगयी, महद् वा पे, भट्टनाथ वा विष्णुचित्त, भक्तिसार वा तिरु मलिसई, कुलशेखर, योगिवाह वा तिरुप्पन, भक्तांघ्रि रेणु वा तोंडर डिप्पोड़ी, परकाल वा तिरुमंगई यतीन्द्र मिश्र वा मधुर कवि तथा परांकुश मुनि वा नम्म आड़वार। ये नाम संख्या में केवल ११ ही आते हैं क्योंकि आंडाल वा गोदा का नाम इनमें सम्मिलित नहीं किया गया है। इसी प्रकार रामानुजाचार्य के ही श्रीरंगम् निवासी अमुडन नामक एक प्रशिष्य ने उक्त 'प्रबन्धम' का

---

[1] जे० एस० एम्० हूपर : 'हिम्स आफ दि आड़वार्स' पृष्ठ ६-११

[2] भूतं सरश्च महदाह्वय भट्टनाथ,
श्री भक्तिसार कुलशेखर योगिवाहन्।
भक्तांघ्रिरेणु परकाल मतीन्दुमिश्रान्
श्री मत्पराङ्कुश मुनिं प्रणतोऽस्मिनित्यम्॥

(डा० ऐयंगर की 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ वैष्णविज़म इन साउथ इण्डिया' पृष्ठ १६ की पाद टिप्पणी में उद्धृत)

संपादन करते समय सभी आड़वारों के नाम, एक विशेष क्रम के अनुसार, गिनाये हैं, किन्तु उस तालिका में भी नम्म तथा मधुर कवि के नाम नहीं आये हैं। इसके सिवाय उनका क्रम भी उपर्युक्त क्रमो में से किसी से भी मिलता नहीं जान पड़ता। अतएव, डा० कृष्ण स्वामी ऐयंगर ने इन तीनों क्रमों एवं सूचियों की पारस्परिक तुलना करके यह परिणाम निकाला है कि उनमें दीख पड़ने वाली भिन्नता केवल श्लोक-रचना की कठिनाई अथवा लिखने के विशेष उद्देश्य के ही कारण, आ गई है। वास्तव में, उन सबका आदर्श वही एक मूल क्रम है जिसका अनुसरण वेदांतदेशिकाचार्य ने भी अपनी १२ कविताओं द्वारा किया है। वेदांतदेशिकाचार्य का क्रम और उनके दिये हुए नामों की सूची, कोई अन्य अधिक प्रामाणिक आधार न मिल सकने के कारण, आज कल भी प्रायः सर्वसम्मत समझी जाती है और उसे डा० भाडारकर के ग्रंथानुसार[2] यहाँ पर अविकल रूप में उद्धृत किया जाता है—

श्रेणी	तामिल नाम	संस्कृत नाम
प्राचीन	१. प्वायगयी आड़वार	१. सरोयोगिन्
	२. भूतत्तार आड़वार	२. भूतयोगिन्
	३. पे आड़वार	३. महद्योगिन वा भ्रांतमौगिन्
	४. तिरु मलिसई आड़वार	४. भक्तिसार
	५. नम्म आड़वार	५. शठकोप
मध्यवर्त्ती	६. मधुरकवि आड़वार	६. मधुरकवि
	७. कुलशेखर आड़वार	७. कुलशेखर
	८. पेरी आड़वार	८. विष्णुचित्त
	९. आंडाल वा गोदा आड़वार	९. गोदा
	१०. तोडर डिप्पोड़ी आड़वार	१०. भक्तांघ्रि रेणु
	१४. तिरुप्पन आड़वार	११. योगिवाहन
	१२. तिरु मंगई आड़वार	१२. परकाल

[1] डा० कृष्ण स्वामी ऐयंगर : 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ वैष्णविज्म' पृष्ठ ३७-८

[2] डा० भांडारकर : 'वैष्णविज्म शैविज्म' पृष्ठ ६१

प्राचीन कहे जाने वाले आड़वारों का समय सबसे अधिक अंधकार में है, किन्तु डा० ऐयंगर ने तामिल भाषा के किन्हीं पिंगल तथा व्याकरण ग्रन्थों के भाष्यों से उद्धृत, प्वायगैयर नामक कवि के, पदों पर विचार करके यह परिणाम निकाला है कि वे प्वायगैयर वस्तुतः प्वायगई आड़वार ही थे जो अपने जीवन-काल के कुछ ही दिनों अनंतर एक देवता की भाँति माने जाने लगे थे। उनके अभी थोड़े दिन पहले प्रकाशित 'इन्निलइ' नामक एक काव्य संग्रह के भी देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उनका समय ईसा की दूसरी शताब्दी के अंतर्गत किसी समय मान लेना अनुचित नहीं कहा जायगा[1]। प्रसिद्ध है कि प्वायगई काञ्ची नगर में स्थित विष्णु मन्दिर के निकटवर्त्ती किसी तालाब में एक कमल पुष्प पर उत्पन्न हुए थे। पे आड़वार का जन्म भी, उसी प्रकार माइलापुर के किसी कुएँ में उसके दूसरे ही दिन, एक लाल कमल से होना बतलाया जाता है और उस स्थान से कुछ मील दक्षिण दिशा की ओर स्थित महाबलिपुरम् के आस-पास किसी एक अन्य फूल से प्रकट होने की कहानी भूतत्तार आड़वार के विषय में भी प्रसिद्ध है। इस प्रकार ये तीनों आड़वार आपस में समसामयिक समझे जाते हैं और इनके संबन्ध में यह एक कथा भी प्रचलित है कि किसी दिन, भारी वृष्टि होते समय, संयोगवश ये तीनों तिरुकुको विलूर नामक नगर के किसी छप्पर के नीचे आ मिले और आपस में कुछ आध्यात्मिक चर्चा कर रहे थे कि इन्हें किसी एक चौथे भी व्यक्ति के आने की आहट मिली और परीक्षा कर चुकने पर पता चला कि वह व्यक्ति स्वयं विष्णु भगवान् थे। अतएव, इस घटना से प्रसन्न होकर उन तीनों ने उसके दूसरे दिन तामिल भाषा में सौ-सौ पदों की रचना कर डाली और ये तीन सौ पद उपर्युक्त 'प्रबन्धम्' में क्रमशः प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय 'तिरुवंदादी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्वायगई आड़वार के कतिपय अन्य पद्य 'इन्निलई' में भी संगृहीत हैं और उनमें प्रसिद्ध 'कुरल' की भाँति नीति जैसे विषयों की भी चर्चा की गई है।

---

[1] डा० कृष्ण स्वामी ऐयंगर : 'अर्ली हिस्ट्री इ०' पृष्ठ ६७-७९

तिरु मलिसई आड़वार के जन्म का भी, इसी प्रकार, उपर्युक्त तीनों आड़वारों के तीन ही महीने पीछे पूनमल्ली के निकट होना प्रसिद्ध है। तिरु मलिसई एक छोटा सा गांव था जिसके नाम पर इस आड़वार का भी नाम दिया जाता है। "इस आड़वार की उत्पत्ति किसी ऋषि एवं अप्सरा के संयोग से हुई था और माता के परित्याग कर देने पर इसे किसी नीचे कुलोत्पन्न मनुष्य ने अपना लिया था और ये सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहे"[१] ऐसा परंपरानुसार प्रसिद्ध है। परन्तु ये एक अपने पद में स्वयं कहते हैं "मेरा जन्म किसी द्विजाति कुल में नहीं हुआ था और न मैं चारों वेदों का जानने वाला हूं; मैंने अपनी इंद्रियों को भी नहीं जीत पाया है और, इसी कारण, हे भगवान्! मुझे तुम्हारे प्रकाशमय चरणों के अतिरिक्त अन्य किसी भी बात का भरोसा नहीं है।" तिरु मलिसई का कनिकन्नम् नामक एक शिष्य भी शूद्र कुल का था और कहा जाता है कि इन दोनों को किसी पल्लववंशी राजा ने देश निकाले का दंड दिया था। तिरु मलिसई तब से घूम-घूम कर चिदम्बरम्, कुम्बाकोनम् आदि स्थानों की यात्रा करते फिरे। अंत में, उक्त राजा के पसन्न हो जाने पर उनकी मृत्यु, कदाचित्, कुम्बाकोनम् में रहते समय ही हो गई। इनकी रचनाएँ कुल मिलाकर दो सौ से भी अधिक संख्या में पायी जाती है और उनमें भक्ति के सिवाय कुछ अन्य विषयों के भी पद्य सम्मिलत हैं। इनके एक पद "श्रमण वा जैन अनजान हैं, बौद्ध भ्रमजाल में पड़े हैं, शैव निर्दोष अज्ञानी हैं और विष्णु की पूजा न करने वाले निम्न श्रेणी के लोग हैं" से पता चलता है कि इनके समय में उधर इन सभी धर्मों का प्रचार हो रहा होगा।

[३]

तिरु मलिसई तक आकर प्राचीन श्रेणी के आड़वारों का अंत हो जाता है और इसके कुछ पीछे प्रकट होने वाले दूसरी श्रेणी के लोगों में, क्रमानुसार, सर्वप्रथम नाम नम्म आड़वार का आता है जिन्हें अधिकतर शठकोपाचार्य भी कहा जाता है।

---

[१] जे० एस्० एम्० हूपर : 'हिम्स आफ दि आड़वार्स' पृष्ठ १२

नम्म आड़्वार वा शठकोपाचार्य, वास्तव में, सबसे बड़े और सबसे प्रसिद्ध हैं और इनके विषय में सबसे अधिक चर्चा भी हुई है। परंतु इनके भी समय आदि का ठीक-ठीक पता अभी तक नहीं चल पाया है और इनके जीवन वृत्तांत का भी वर्णन प्राचीन पौराणिक परंपरानुसार ही किया गया दीख पड़ता है। अनुश्रुति के अनुसार इनका जन्म तिनेवली जिले के कुरुकूर (अथवा आज कल के 'आड़वार तिरु नगरी' कहे जाने वाले) नगर के एक शूद्र कुल में हुआ था। इनके संबंध में किये गए कई भिन्न-भिन्न अनुमानों की आलोचना करते हुए डा० ऐयंगर इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि इनका समय छठी ईस्वी शताब्दी के मध्यभाग में रखना ठीक है। गुरु-परंपरा इनके पिता कारियर की जाति का नाम वेल्लाल ठहराती है और यह भी कहा जाता है कि वे अपने गांव के मुखिया थे। बालक नम्म ने जन्म लेने के अनंतर अपनी आंखें नहीं खोली थी और न अपनी माता का दूध पिया वा रोया ही था। अतएव, उसके माता-पिता भयभीत होकर उसे बारहवें दिन, किसी निकटस्थ विष्णु मंदिर में, उठा ले गए और उसका नाम 'माड़न' अर्थात् 'मरण' रखकर उसे किसी इमली के पेड़ के तले अथवा उसके खोखले में डाल आए। कहते हैं कि बालक वहाँ पर तभी से सोलह वर्षों तक बिना किसी पालन-पोषण के ही पड़ा रहा और विष्णु भगवान की कृपा से उसकी रक्षा किसी अलौकिक ढंग से होती रही। मंदिर के सामने, किंतु इमली की जड़ के ही निकट, उसका पौंढते हुए जाना तथा वहाँ पहुँच कर योगमुद्रा में बैठना भी प्रसिद्ध है और कहा जाता है कि अंत में उसे भगवान् ने प्रसन्न होकर अपूर्व शक्ति प्रदान कर दी।

कहते हैं कि बालक के सोलहवें वर्ष में वहाँ पर एक अन्य महापुरुष भी आ पहुँचे। इनका जन्म तिरोक्कूलूर वा तिरुकोलूर गांव के किसी सामवेदी ब्राह्मण कुल में हुआ था और ये वेदादि का सांगोपांग अध्ययन करके अपने घर से तीर्थयात्रा के लिए निकले थे। परंतु उत्तरी भारत में भ्रमण करते समय जब ये अयोध्या पहुँचे तो, कहीं से अपनी मातृभूमि की ओर दृष्टि डालते समय, रात को इन्हें दक्षिण दिशा में कोई विचित्र ज्योतिस्तंभ दिखलाई पड़ा और इस बात का अनुभव इन्हें उसके दूसरे दिन भी हुआ तो ये आश्चर्य चकित होकर वहाँ से

वापस चल पड़े। तत्पश्चात् उपर्युक्त रहस्य का पता लगाते-लगाते जब ये तिरो-कुक्कूर आये और गाँव वालों से सूचना पाकर इमली के निकट पहुँचे तो इन्हें ज्योति के मूल स्रोत का वास्तविक परिचय मिला और इन्हें स्पष्ट हो गया कि वह ज्योति वहाँ पर वर्त्तमान 'मरण' के ही शरीर से स्फुरित हो रही है। इस कारण इन्होंने कौतूहलवश एक पत्थर उठाकर उसके सामने पटका दिया और उसका शब्द सुनते ही 'मरण' की आँखें खुल गईं और दोनों के बीच आध्यात्मिक चर्चा छिड़ गई। अंत में उस बातचीत का ऐसा प्रभाव पड़ा कि ये भी वहीं पर ठहर गए और अपने को 'मरण' का शिष्य समझते हुए उसकी बातें सुनने लगे। 'मरण' पर भी इनका बहुत कुछ प्रभाव पड़ा और आनंद के मारे उसके मुख से पदों का क्रम धारा-प्रवाह से चलने लगा। कहना न होगा कि उस 'मरण' का ही नाम आगे चलकर नम्म, शठकोप वा परांकुश भी पड़ गया और ये दूसरे व्यक्ति उस आचार्य के शिष्यरूप में, प्रसिद्ध मधुर कवि आड़वार के नाम से, विख्यात हुए। मधुर कवि अपने आचार्य के मुख से उक्त प्रकार निकलते जाने वाले पदों को यथाक्रम लिपिबद्ध करते गए थे और वे ही अब तक नम्म आड़वार की रचनाओं के नाम से संगृहीत हैं।[1]

परंतु इन दोनों आड़वारों के पारस्परिक वार्त्तालाप तथा एक दूसरे से लाभ उठाने की बात छोड़कर अन्य कुछ भी पता नहीं चलता। नम्म आड़वार की रचनाओं में अनेक तीर्थ स्थानों के नाम इधर-उधर बिखरे हुए पाये जाते हैं जिनका वर्गीकरण करने पर पता लगाया जा सकता है कि ये भी, बहुत से अन्य आड़वारों की भाँति, उन पवित्र स्थानों की यात्रा किये होंगे और यह धारणा इनके द्वारा कतिपय देवताओं के प्रति प्रदर्शित भक्ति भाव तथा इनकी विनयों की विशिष्ट शैली के आधार पर पुष्ट भी हो जाती है। फिर भी जनश्रुति इस बात को स्वीकार करती हुई नहीं जान पड़ती और यह कहना भी केवल कोरे अनुमान पर ही आश्रित समझ पड़ता है कि ये अपने जीवन भर अविवाहित अवस्था में रहे और अंत में, इनकी मृत्यु केवल पैंतीस वर्ष की अवस्था में ही हो गई।

[1] **'नम्म आड़वार' जी० ए० नटेसन, मद्रास पृष्ठ २२–३**

मधुर कवि इनके उपरांत भी कई वर्षों तक जीवित रहे और उन्होंने अपने गुरु की जन्मभूमि में ही इनकी एक मूर्ति को स्थापना कर इनकी पूजा के लिए समुचित नियमों की व्यवस्था कर दी। मधुर कवि ने इनके उत्तम पदों का पाठ करने को भी प्रथा चलाई थी और इसका प्रचार तथा समर्पण, आगे चलकर, तिरु मंगई आड़वार एवं नाथमुनि ने भी किया था। नम्म आड़वार की रचनाएं प्रायः चार प्रकार की पायी जाती हैं और उनमें से कुल की संख्या लगभग १३०० पदों तक पहुँचती है। वे सभी 'प्रबंधम्' नामक प्रसिद्ध संग्रह में सुरक्षित हैं और उनमें सबसे अधिक महत्त्व 'तिरु वायमोली' को दिया जाता है। 'तिरु वाय मोली' को उक्त 'प्रबंधम्' के अंतिम अर्थात् चौथे भाग में स्थान दिया गया है और उसके १० दशकों में ११०२ पद आये हैं।[1] स्वयं मधुर कवि ने केवल १० पदों की ही रचना की है और उनमें भी प्रधानता नम्म की प्रशंसा में लिखे गए पद्यों को मिली है। नम्म आड़वार की रचनाओं के विषय में कहा जाता है कि उनमें चारों वेदों का सार तत्त्व आ गया है।

आड़वारों की इस मध्यवर्त्ती श्रेणी के अंतर्गत तीसरा नाम, क्रमानुसार कुलशेखर का आता है जिन्हें वैष्णव गुरु-परंपरानुसार भगवान् विष्णु के वक्षःस्थल पर लगे हुए कौस्तुभमणि का अवतार समझा जाता है। इनकी रचनाओं में आये हुए प्रसंगों के अनुसार इनके जीवन-काल के विषय में अनेक प्रकार के अनुमान किये जाते हैं, किंतु, बहुत से अन्य प्रमाणों की भी दृष्टि से उनकी आलोचना करते हुए डा० ऐयंगर इनका समय भी छठी शताब्दी में ही ठहराते हैं।[2] कुलशेखर का जन्म त्रावंकोर राज्य के अंतर्गत 'कोल्ली' अथवा 'क्विलन' नामक नगर में हुआ था और इनके पिता वहीं के राजा दृढ़व्रत थे। पहले इन्हें संस्कृत एवं तामिल भाषा की शिक्षा दी गई और अच्छी योग्यता प्राप्त कर लेने पर इन्हें शासन का भार भी सुपुर्द किया गया, परंतु इनका झुकाव अपने बचपन से ही वैष्णव धर्म की ओर ही अधिक रहा और ये 'रामायण' का पाठ बहुत

---

[1] जे० एस० एम्० हूपर : 'हिम्स आफ़ दि आड़वार्स' पृष्ठ १३

[2] डा० कृष्ण स्वामी ऐयंगर : 'अर्ली हिस्ट्री इ०' पृष्ठ ३७

पसंद करते थे। कहा जाता है कि एक बार जब ये 'रामायण' पढ़वा कर सुन रहे थे तो खरदूषण आदि अनेक राक्षसों के विरुद्ध श्रीरामचंद्र के अकेले खड़े होने का प्रसंग आते ही, तन्मयता के कारण, इन्होंने अपनी सेना को, भगवान् की सहायता के लिए, कूच करने की आज्ञा दे दी और उनके मंत्रियों को ऐसी विकट स्थिति सँभालने के लिए प्रयत्न करने पड़े। इसी प्रकार एक दूसरी बार ये अशोक-वाटिका में घिरी हुई सेना को बचाने के लिए लंका की ओर चल पड़े थे और समुद्र पार करते समय कठिनाई से रोके गए।

वैष्णवों के प्रति भी कुलशेखर की बड़ी आस्था थी। एक बार जब इनके मंत्रियो ने, इन्हें उनसे विरक्त करने की इच्छा से, इनके कतिपय अंतरंग वैष्णव साधुओं पर चोरी का दोषारोपण किया तो ये सहसा कह उठे कि "नहीं, नहीं, वैष्णव होकर कोई ऐसा दुष्कर्म कर ही नहीं सकता" और इस बात को प्रमाणित करने के लिए इन्होंने अपना हाथ किसी ऐसे पात्र में डाल दिया जिसमें विषधर सर्प रखे हुए थे, किंतु इन्हें कोई क्षति न हो सकी। थोड़े ही दिनों तक राज्यशासन करने के उपरांत इनका मन उस कार्य से उचटने लगा, अतएव इन्होंने सब कुछ का परित्याग कर श्रीरंगम् तीर्थ के निकट भगवान् की शरण में रहने की ठानली और वहाँ पर इन्होंने संस्कृत में 'मुकुन्द माला' तथा तामिल में भी पदों की रचना की। कहते हैं कि रंगनाथ जी द्वारा प्रेरित होकर ये फिर वहाँ से कांची होते हुए 'तिरुपति' धाम चले गए और वहाँ से लौट कर ये अन्य वैष्णव तीर्थों की भी यात्रा करते हुए दक्षिणी आरकाट जिले के किसी नगर में आये जहाँ इन्होंने केवल २५ वर्षों की ही अवस्था में प्राण त्याग कर दिया। 'प्रबंधम' में इनके १०३ पद संगृहीत हैं जिन्हें 'पेरूमल तिरुमोली' कहते हैं और जिनके प्रत्येक दशक में इन्होंने कुछ न कुछ अपने विषय में भी कहा है। इनके इन वर्णनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये क्विलन में उत्पन्न हुए थे तथा कोली, मदुरा एवं कांगू पर इन्होंने शासन किया था।

इस मध्यवर्ती श्रेणी के दो अंतिम आड़वार पेरी और उनकी पुत्री आंडाल नाम से प्रसिद्ध है। डा० ऐयंगर ने इन दोनों की रचनाओं की भी अंतरंग परीक्षा करके इनका समय कुलशेखर के निकट अथवा सातवीं शताब्दी तक

मान लिया है।[1] पेरी आड़वार जाति के ब्राह्मण थे और इनका जन्म मदुरा जिले के 'स्त्रीविल्ल पुतूर' नामक एक गाँव में हुआ था। ये बहुत कम पढ़े लिखे थे और, इसीलिए, इनका मुख्य काम अपनी छोटी-सी फुलवारी से फूलों को चुनकर और उनकी माला गूँथकर स्थानीय मंदिर के बट-पत्र पर लेटे हुए बाल मुकुन्द पर नित्यशः चढ़ा देना मात्र था। कहते हैं कि एक दिन इन्हें रात्रि के समय स्वप्न में यह आदेश मिला कि तुम पांड्यवंशी राजा वल्लभदेव के दरबार में मदुरा चले जाओ और वहाँ जाकर शास्त्रार्थ में भाग लो। इन्हें शास्त्र का बहुत ही कम ज्ञान था, किंतु भगवान् की इस प्रेरणा से विवश होकर ये वहाँ पहुँच गए और वहाँ के सभी दिग्गज पंडितों को हराकर इन्होंने राजा से द्रव्यादि के अतिरिक्त 'भट्टनाथ' की उपाधि भी प्राप्त कर ली फिर भी उस प्रतिष्ठा को केवल भगवान् की कृपा का ही परिणाम समझकर इन्होंने अपने प्राप्त धन को मंदिर की सेवा में अर्पित कर दिया और ये दूनी भक्ति के साथ अपने कार्य में लग गए। भगवान् विष्णु के प्रेम में मग्न होकर इन्होंने उनकी 'तिरुप्प-ल्लाँडु' नामक प्रसिद्ध स्तुति की रचना की और श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन करते हुए इन्होंने 'तिरुमोली' नामक पदावली भी प्रस्तुत की। पेरी आड़वार की कुल कविताएं केवल पचास के लगभग हैं और उनमें, वैष्णव धर्म के गंभीर विषयों के सिवाय, छंद प्रयोग संबंधी विचित्रताओं के भी उदाहरण हैं।

आंडाल आड़वार की उत्पत्ति, पेरी आड़वार द्वारा अपनी फुलवारी की भूमि को गोड़ते समय, किसी तुलसी वृक्ष के निकट हुई थी जिसके संबंध में तथ्य का पता लगाना बहुत कठिन है। किंतु इतना अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि उस बालिका का पालन-पोषण पेरी आड़वार के ही घर हुआ था जिस कारण वह पीछे उनकी पुत्री कहला कर प्रसिद्ध हुई। कहा जाता है कि पेरी द्वारा माला गूँथने के लिए चुनकर लाये गए फूलों के साथ बालिका आंडाल बहुधा खिलवाड़ किया करती थी और गुंथी हुई माला को उठाकर कभी-कभी

---

[1] डा० कृष्ण स्वामी ऐयंगरः 'अर्ली हिस्ट्री इ०' पृष्ठ ८८

अपने गले में भी डाल लेती थी। एक दिन इस प्रकार शृंगार करते समय उसे पेरी ने देख लिया और, इस विचार से क्षुब्ध होकर कि एक बार पहनी गयी मालाएं कदाचित् भगवान् पर फिर चढ़ायी न जा सकें, ये झुँझला उठे। परंतु, अंत में, इन्हें जान पड़ा कि भगवान् को आंडाल द्वारा पहनी गयी मालाएं ही अधिक पसंद हैं और तब से सभी मालाएं पहले आंडाल को पहना ली जाने लगीं, इस बात का प्रभाव पीछे उस बालिका के कोमल हृदय पर ऐसा पड़ा कि वह कृष्ण के प्रति उत्तरोत्तर आकृष्ट होती गई। उसके हृदय में कृष्ण के प्रति प्रेम का फिर ऐसा संचार हुआ कि वह अपने को श्रीकृष्ण के मिलन की भूखी किसी गोपी का अवतार समझने लगी। विवाह के योग्य हो जाने पर जब इस विषय की चर्चा चली तो आंडाल ने अपने गुरुजनों से स्पष्ट कह दिया "मैं श्रीरंगम् के भगवान् श्री रंगनाथ को छोड़कर दूसरे किसी को वरण नहीं कर सकती" और, किसी स्वप्न द्वारा इस बात का समर्थन भी हो जाने पर, पेरी आड़वार इसे श्रीरंगम् के मंदिर में पहुँचा आए। वहाँ पर इसे उन्होंने वैवाहिक विधियों के साथ भगवान् को अर्पित कर दिया। यह भी प्रसिद्ध है कि वहाँ जाकर मूर्ति से मिलते ही आंडाल अचानक अंतर्हित हो गई और सभी लोग आश्चर्य करते रह गए। आंडाल की कहानी राजस्थान की प्रसिद्ध 'मेड़तणी' मीरांबाई संबंधी प्रचलित कथाओं से बहुत कुछ मिलती-जुलती है और इनके पद भी उनकी कविताओं की ही भाँति प्रेमभाव में सराबोर होने के कारण परम प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय हैं।

[४]

आंडाल से अनुमानतः लगभग एक सौ वर्ष पीछे तृतीय अर्थात् अंतिम श्रेणी के आड़वारों का समय आरंभ होता है। ये आड़वार संख्या में केवल तीन थे और इनमें से भी पहले दो के विषय में अधिक पता नहीं चलता। पहले अर्थात् तोडरडिप्पोड़ी के संबंध में केवल इतना प्रसिद्ध है कि उनका जन्म माडांगुडी नामक एक गाँव में हुआ था, उनका पहले का नाम विप्रनारायण था। पेरी आड़वार की ही भाँति, उनका भी मुख्य काम श्रीरंगम् के विष्णु भगवान् के निमित्त फूल चुनकर उनसे माला तैयार करना था। ये उस मंदिर

में इसी काम के लिए एक नौकर के समान कदाचित् रख भी लिये गए थे। अपनी पूर्णावस्था में ये देवादेवी नाम की किसी वेश्या से फँस कर व्यसनी भी हो गए थे, किंतु, भगवान् रंगनाथ की कृपा से, इन्हें किसी प्रकार बोध हो गया और अंत में सुधर जाने पर इन्होंने अपना नाम बदलकर उसे तोडरडिप्पोड़ी अर्थात् भक्तांघ्रि रेणु कर दिया। 'प्रबंधम्' में इनकी केवल दो ही रचनाएं संगृहीत हैं और उन दोनों में इनकी विष्णु भक्ति के साथ-साथ बौद्धों, जैनों तथा शैवों तक के प्रति शत्रुता के भाव लक्षित होते हैं। इस श्रेणी के दूसरे आड़वार, तिरुप्पन के लिए, इसी प्रकार, प्रसिद्ध है कि अपनी बाल्यावस्था में वे पहले-पहल त्रिचिनापल्ली ज़िले के उरैपुर वा 'वोरीउर' नामक गाँव के किसी धान के खेत में एक पंचम जाति के निःसंतान व्यक्ति द्वारा पाये गए थे। परंतु, अपने पालन-पोषण करने वाले की नीची जाति होने पर भी, इनके हृदय में भक्ति के भाव आरंभ से ही जागृत होने लगे और अस्पृश्यता के कारण श्रीरंगम् के द्वीप स्थित मंदिर तक पहुँच न सकने पर भी, ये कावेरी नदी के दक्षिणी किनारे पर खड़े होकर वहीं से भगवान् की स्तुति करके संतोष करने लगे। वहाँ पर खड़े-खड़े ये बहुधा, इस प्रकार, आनंद-विभोर हो जाते थे कि इन्हें अपने शरीर तक की सुध नहीं रहती थी। एक दिन जब ये अपनी वीणा बजाते हुए, इसी भाँति, भजन में लवलीन थे कि भगवान् के स्नानार्थ जल लाने के लिए वहाँ लोकसांज्ञा महामुनि नाम के कोई पुजारी पहुँच गए और प्रेममगन तिरुप्पन को वहाँ से हटाकर उन्होंने अलग करना चाहा। परंतु, उनकी बातों को ओर जब इनका कुछ भी ध्यान नहीं गया तो उन्होंने एक पत्थर फेंका जिससे चोट खाकर ये नम्रता के साथ हट गए। उधर महामुनि के जल को श्री रंगनाथ जी ने ग्रहण नहीं किया और उन्हें आदेश दिया कि अपवित्र समझे जाने वाले तिरुप्पन को तुम शीघ्र अपने कंधे पर बिठा लाओ। तिरुप्पन पर भी इस बात का बड़ा प्रभाव पड़ा और प्रसन्न होकर इन्होंने कई पदों की रचना कर डाली। मरने के समय इनकी अवस्था ५० वर्ष की थी।

तिरु मंगई सबसे अंतिम आड़वार थे और इनका समय, सभी बातों पर विचार करते हुए, नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध अथवा आठवीं के उत्तरार्द्ध में

रखा जा सकता है। इनका जन्म तंजोर जिले के तिरुक्कुरि मालुर नगर के किसी शूद्र कुल में हुआ था और इनके बचपन का नाम नील था। इनके पिता तत्कालीन चोलवंशी राजा के सेनापति थे और ये भी उन्नति करते-करते अंत में उसी महाराज के सेनापति और उपशामक हो गए थे। जब इनकी महाराज से नहीं पटी तो इन्होंने नौकरी छोड़ दी और लुटेरे की जीविका स्वीकार कर ली। इनके वैष्णव धर्म की ओर झुकने का कारण यह कहा जाता है कि एक बार इन्होंने किसी कुमुदवल्ली नाम की अप्सरा से विवाह करना चाहा और इस सम्बन्ध की स्वीकृति के उपलक्ष में इन्होंने प्रतिदिन एक वर्ष तक १००८ वैष्णवों के खिलाने की प्रतिज्ञा की। तदर्थ द्रव्य जुटाने के लिए ये बराबर नृशंस व्यवहार करते रहे और एकबार जब ये किसी ब्राह्मण के वेष में नारायण को पाकर उनसे मिले हुए अपार धन-राशि को उठा न सके तो विवश हो उनके शरणापन्न हो गए। तब से ये घूम-घूम तीर्थ यात्रा करने लगे और सिद्धाली या शियाली तक जाकर इन्होंने प्रसिद्ध शैव विद्वान् सम्बन्ध को परास्त कर दिया तथा वहाँ से 'परकाल' अर्थात् 'विरोधियों का विनाशक' की उपाधि प्राप्त की। श्रीरंगम् पहुँचने पर इन्हें स्वप्न हुआ कि तुम रंगनाथ के मन्दिर का उद्धार करो। अतएव, द्रव्य एकत्र करने की इच्छा से इन्होंने एकबार फिर अपनी पुरानी लूट-खसोट आरम्भ कर दी। कहा जाता है कि, इसी उद्देश्य से, इन्होंने धोखा देकर अखरोट से लदे हुए किसी जहाज का माल हस्तगत कर लिया और तंजोर जिले के नेगापटम् नगर में पहुँच कर वहाँ की स्वर्णमयी मूर्ति को तोड़ ये सभी माल उठा लाये। मन्दिर का स्वर्ण निकालते समय इन्होंने वहाँ के कारीगरों को पूरा द्रव्य नहीं दिया था और उन्हें रुष्ट कर दिया था, इस कारण जब वे लोग इन्हें तंग करने लगे तो इन्होंने बिगड़कर उनमें से कई व्यक्तियों को कावेरी नदी में डुबा देने की आज्ञा दे दी और उनके संबंधियों से कह दिया कि उन्हें अब स्वर्ग मिल गया होगा। मन्दिर का जीर्णोद्धार कर ये तिरु कुरुंगुड़ी चले गये और वहीं पर इनका प्राणांत हो गया। तिरु मंगई ने, नम्म आड़वार को छोड़कर कदाचित् सबसे अधिक पदों की रचना की है, किन्तु इनकी रचनाएँ उतनी सुन्दर नहीं हैं।

(५)

आड़वारों के उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय से भी पता चलता है कि वे वास्तव में बहुत बड़े भक्त और आध्यात्मिक व्यक्ति रहे होंगे। उनमें केवल तिरु मंगई आड़वार ही ऐसे हैं जिनकी संस्कारजन्य क्रूर मनोवृत्ति उन्हें मानवता की दृष्टि से बहुत उच्च स्थान नहीं दिला सकती। फिर भी उनका पवित्र उद्देश्य और उनकी प्रबल एकान्तनिष्ठा हमें विवश करेंगे कि उन्हें भी किसी न किसी रूप में कुछ महत्त्व प्रदान किया जाय। एकाध आड़वारों के अतिरिक्त प्रायः सभी साधारण श्रेणी के ही मनुष्य थे और सांसारिक वैभवादि की ओर से उन्हें बहुत कम सहायता मिल सकी थी। किन्तु उनकी लगन अपने इष्ट के प्रति निरंतर बनी रही और केवल इसी एक भावना द्वारा बल-संचय कर ये अपने क्षेत्र में उत्तीर्ण हो गए। इनके जीवन की झलक हमें स्वभावतः एकांगी रूप में ही मिलती है और समय के विस्तार एवं सामग्रियों की कमी के कारण हम उसे भी भरपूर देख नहीं पाते। इनकी पूर्वोक्त तीन श्रेणियों में से प्राचीन एवं मध्यवर्त्ती के बीच तीन सौ से भी अधिक वर्षों का अन्तर पड़ता है और यह पता नहीं चलता कि इन दोनों का सम्बन्ध प्रकट करने वाली कोई विशेष बात रही वा नहीं। परन्तु आंडाल तथा तोंडरडिप्पोड़ी के समयों के बीच उतना अन्तर लक्षित नहीं होता और मधुर कवि द्वारा प्रचलित किये गये, नम्म आड़वार की पूजा और प्रतिष्ठा सम्बन्धी आन्दोलन के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि इन अन्तिम दो श्रेणियों के आड़वारों के मध्य कोई परंपरागत सम्बन्ध रहा होगा। तिरु मंगई के अनंतर आड़वारों के युग का समाप्त हो जाना माना जाता है और इसीकी दसवीं शताब्दी से उन आचार्यों का युग आरम्भ होता है जो बहुत कुछ इन आड़वारों द्वारा ही प्रभावित थे। आड़वारों तथा आचार्यों में एक महान् अंतर भी था। वे इनकी भाँति केवल अशिक्षित वा अर्द्ध शिक्षित मात्र नहीं थे, अपितु शास्त्रों से पूर्ण अभिज्ञ, शास्त्रार्थ पटु तथा योग्य ग्रंथकार भी थे, और उन्हीं द्वारा किये गये प्रयत्नों के कारण वैष्णवधर्म उत्तरी भारत में फिर एकबार प्रतिष्ठित हो गया।

प्रसिद्ध है कि आंड़वारों की रचनाओं का संग्रह, सर्वप्रथम रघुनाथा-

चार्य वा नाथ मुनि ने आरम्भ किया था। वे ही प्रथम आचार्य थे और उनका आविर्भाव काल संभवतः १० वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध था। नाथ मुनि के उपरांत उनके पौत्र यामुनाचार्य ने भी उन पदों का महत्त्व बतला कर, उनका प्रचार किया और इस प्रकार उनके भी उत्तराधिकारी श्री रामानुजाचार्य के समय अथवा अनुमानतः ईस्वी सन् ११०० तथा १५०० के मध्यकाल में उक्त आचार्य के आदेशानुसार 'प्रबन्धम्' के वर्तमान रूप का संपादन किया गया[1]। इस 'प्रबन्धम्' वा 'नाडायिर प्रबन्धम्' में ही आड़वारों की सभी उपलब्ध रचनाएँ संगृहीत हैं। तामिल प्रान्त में यह संग्रह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ समझा जाता है और बड़ा होने पर भी वहाँ के अनेक वैष्णवों के कंठाग्र बना रहता है। इसके मुख्य अंशों में पेरी रचा 'तिरुप्पल्लांडु तथा आंडाल की 'तिरुप्पावई' हैं जिनके पाठ का प्रत्येक दिन होना परमावश्यक है पहले उपर्युक्त रचनाओं के केवल मूल का पाठ हुआ करता था। किन्तु अब संपूर्ण 'प्रबन्धम्' पीछे लिखे गए भाष्यों के साथ भी पढ़ा जाता है। कभी-कभी 'प्रबन्धम्' को पढ़ने के लिए विशेष व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती है और वे 'अडैयार' कहलाते हैं। ये अडैयार मंडपों के सामने खड़े होकर पदों का उच्चारण एक निश्चित ढंग से किया करते हैं। फिर भी 'प्रबन्धम' का पाठ कोई भी वैष्णव कर सकता है और इसके लिए वर्ण वा जाति का कोई बन्धन नहीं है।

'प्रबन्धम्' के अंतर्गत आयी हुई रचनाओं के प्रमुख विषय आवागमन के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए ईश्वर के प्रति की गई प्रार्थना के भाव, शुद्ध प्रेम एवं श्रद्धा तथा कृष्णावतार की विविध लीलाओं का विशुद्ध वर्णन जान पड़ते हैं। परंतु बहुत से पदों में हिंदू धर्म संबंधी अनेक प्राचीन ग्रंथों के अन्य विषय भी आ गए हैं जिनसे पता चलता है कि इनके रचयिताओं का ज्ञान, उनके अनुभवों के सिवाय, उनके बहुत कुछ बहुश्रुत होने वा सत्संग करने पर भी आश्रित रहा होगा। इस प्रकार इनका क्षेत्र बहुत व्यापक है और इनमें तोंडरडिप्पोड़ी की प्रसादपूर्ण सुंदर पंक्तियों से लेकर नम्म आड़वार के गंभीर

[1] डा० कृष्णस्वामी ऐयंगर : 'अर्ली हिस्ट्री इ०' पृष्ठ ६०

भावों से भरे पद तथा कुलशेखर की कलापूर्ण कविताओं से लेकर आंडाल के प्रेमोन्माद-प्ररित मधुर गीत भी सम्मिलित हैं। इनमें लक्षित होने वाले दार्शनिक सिद्धांतों का महत्त्व इसीसे जाना जा सकता है कि, वास्तव में, इन्हींकी चिद-चिद्विशिष्ट ब्रह्मसंबंधिनी भावना एवं प्रेम तथा प्रवृति विषयक विचारों के मुख्य शिलाधार पर पीछे विशिष्टाद्वैत एवं श्रीसंप्रदाय की नींव रखी गई थी और इस बात को, 'द्रविड़ संतों का पवित्र ज्ञान' के रचयिता ए० गोविदाचार्य के अनुसार, भलीभांति सिद्ध किया जा सकता है। आड़वारों द्वारा मूर्तियों तथा तीर्थस्थानों को अधिक महत्त्व दिये जाने का रहस्य यह जान पड़ता है कि धर्म संबंधी आध्यात्मिक भावों का इंद्रिय सुलभ प्रकाशन और उनके लिए आंतरिक प्रेरणा भी केवल तभी संभव है जबकि उन्हें प्रतीकों के साधन द्वारा अनुभवगम्य कर लिया जाय। आड़वारों ने अपने गीतों में, प्रतीकों द्वारा प्राप्त ऐंद्रिय अनुभवों को अपने आत्मानंद का आधार बनाया था। इन्होंने भगवान् को सांसारिक वस्तुओं में प्रत्यक्ष देखा और मानवीय संबंधो के पूर्णतः परिचित नियमानुसार उनके लिए अपने हृदय की उत्कट अभिलाषा व्यक्त करने की चेष्टा की। इन्हें इस बात में पूर्ण विश्वास था कि बिना भगवदाराधना और उसकी प्राप्ति के आत्मा को शांति नहीं मिल सकती।

आड़वारों के सच्चे वैष्णव हृदय का पता उनकी रचनाओं की प्रत्येक पंक्ति से चलता है जिसमें उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा एवं भक्ति के भाव एक-एक शब्द द्वारा व्यक्त किये गये दीख पड़ते है और जो इसी कारण विशेष रूप से सुंदर एवं प्रसादगुणयुक्त है। तिरुमलिसई अपने उपास्यदेव के प्रति कहते हैं "हे नारायण, मेरे ऊपर आज दया करो, कल भी करो और सदा कृपा बनाये रहो; मुझे विश्वास है कि तुम्हारी दया मेरी निजी वस्तु है और यह भी निश्चय है कि न मै तुम्हारे बिना और न तुम्हीं मेरे बिना हो।" इसी प्रकार कुलशेखर ने भी एक स्थल पर कहा है—"हे भगवन्! मुझे चाहे जो भी कष्ट झेलने पड़ें मै तुम्हारे चरणो के सिवाय शरण के लिए कोई दूसरा स्थान नहीं जानता;

[1] **'नम्म आड़वार' (जी० ए० नटेसन, मद्रास), पृष्ठ १७-१६**

बालक की माता अपने उत्पन्न किये हुए बच्चे को चाहे, क्षणिक रोष में आकर फेंक भी दे तो भी केवल उसके ही प्रेम का भूखा शिशु दूसरे किसी को ध्यान में भी नहीं ला सकता, मेरी भी दशा ठीक वही है।"[1] तिरु मंगई आड़वार की रचना 'पेरियातिरु मोडी' तथा स्वभावतः आंडाल की 'तिरुप्पावई' को पढ़ने पर जान पड़ता है कि इन आड़वारों ने माधुर्य भाव के भी अनेक पद्यों की रचना की है और नम्म आड़वार की 'तिरुविरुत्तम्' भी ऐसी ही पंक्तियों से भरी है। नम्म आड़वार ने उपास्यदेव के मिलन को 'आध्यात्मिक सहवास' की संज्ञा दी है और उसके लिए तीन प्रकार के प्रेम को मुख्य साधन ठहराया है जिन्हें हम क्रमशः सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य कह सकते हैं। किंतु इन तीनों में से उन्होंने माधुर्य को ही प्रधानता दी है और प्रसिद्ध है कि इस भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए वे कभी-कभी स्त्री का वेश तक धारण कर लिया करते थे।[2]

नम्म आड़वार का कहना है "अपने प्रियतम के प्रति संदेश भेजने की उत्सुकता में, विरहिणी, किसी दूत को न पाकर, हंस को ही भेजना चाहती है, किंतु ये दुष्ट पक्षी अपनी हंसिनों के साथ उड़ भागते हैं और उसके शब्दों को ध्यान तक में नहीं लाते। क्या उस नीलोत्पल श्याम वपु धारी विष्णु के विस्तृत लोक में पहुँचने के लिए हम विरहिणियों के संदेशों का कोई भी अधिकार नहीं ?"[3] "हे वैकुंठवासिन्, तुम्हें देखने की अभिलाषा से मैं आकाश की ओर दृष्टि डालती हुई बेहोश हो जाती हूँ, रोने लगती हूँ और विनय करती हूँ। तुम्हारे चरणों को अपने नेत्रों में लगा लेने के लिए मैं प्रार्थना करती हूँ और गाती-गाती थक जाया करती हूँ। उत्सुक होकर चारों ओर दृष्टिपात करती हुई मैं झुक जाती हूँ और लज्जा के मारे पृथ्वी में गड़ सी जाती हूँ। मुझे कब तक विरह में रखोगे ?"[1] इसी प्रकार आंडाल का भी कहना है "ऐ संसार के लोगो

[1] 'नम्म आड़वार' (जी० ए० नटेसन, मद्रास) पृष्ठ ६ पर उद्धृत

[2] चतुर्थ प्राच्य सम्मेलन इलाहाबाद का कार्य विवरण, १६२६

[3] जे० एस० एम् हूपर : 'हिम्स आफ द्रि आड़वार्स', पृष्ठ ६६

सुनो, और ध्यान में रखो कि हमें, उस क्षीरशायी प्रियतम के लिए श्रीव्रत पालनार्थ क्या-क्या करना आवश्यक है। हम ठीक सूर्योदय के होते ही स्नान कर लेंगी, घी-दूध का परित्याग कर देंगी, आँखों में काजल न देंगी, केशों को फूलों से न सजायगी, कोई अनुचित कार्य न करेंगी और न अनुपयुक्त शब्दों का उच्चारण ही करेंगी। हम प्रीति एवं दयापूर्वक औरों को वस्तुओं का वितरण करेंगी और नित्य इसी प्रकार के जीवन-यापन में प्रसन्न रहेंगी; इलोरम्बावाय"[२] आंडाल वा गोदा आड़वार सदा कृष्ण के प्रति प्रदर्शित गोपीभाव से ही ओत-प्रोत रहा करती थी। वे उस परमभाव में इस प्रकार तन्मय रहा करती थीं कि अपने गाँव विल्लो पुत्तूर को ही उन्होंने गोकुल मान लिया था और वहाँ की लड़कियों को गोपियाँ, भगवान् के मंदिर को नंद का घर, एवं भगवान् की मूर्ति को ही श्रीकृष्ण समझकर वे अत्युत्कट प्रेम भावना के साथ गोपियों का अनुकरण करती थी।[3] अपनी सूक्तियों के छठे दशक में गोदा ने 'माधव' के साथ स्वप्न में होने वाले विवाह का वर्णन किया है और उसके अंतिम वा चौदहवें में वे श्रीकृष्ण के दर्शनों का प्रत्यक्ष अनुभव कर आनंदमग्न हुई जान पड़ती हैं। इसके सिवाय उसके पाँचवें दशक में उन्होंने एक विरहिणी की भाँति किसी कोयल के प्रति अपनी विरह-कथा का संदेश ले जाने का आग्रह भी किया है।

वास्तव में इन आड़वारों के 'आध्यात्मिक सहवास' वाली भक्ति का भी प्रायः वही रूप है जो पीछे भी चैतन्य महाप्रभु की रागानुगाभक्ति में लक्षित हुआ और जिसे गिरधर प्रेमिका मीराँबाई ने भी अपनाया।

---

[१] **'नम्म आड़वार' (जी० ए० नटेशन, मद्रास), पृष्ठ ४०**

[२] **'श्रीव्रतम्' (लक्ष्मीप्रपन्नाचार्य कृतसंस्कृतपद्यानुवाद, बलिया १९१४) पृष्ठ ३-४**

[3] **का० श्रीनिवासाचार्य : 'आलवार कवयित्री गोदा' (कल्याण, गोरखपुर, जनवरी, १९४१ ई० पृष्ठ ११७१)**

वैष्णवों का सहजिया संप्रदाय

(१)

महात्मा गौतम बुद्ध ने जिस 'निर्वाण' को मानव जीवन के लिए चरम लक्ष्य निर्धारित किया था उसका स्वरूप उनके समय में पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाया था और वह आगे के लिए भी बहुत कुछ अनिश्चित एवं अनिर्वचनीय ही बना रहा। तदनुसार इस संबंध में सदा भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुमान किये जाते रहे और उस महत्त्वपूर्ण धारणा में क्रमशः परिवर्त्तन भी होते गए। अश्वघोष ने, निर्वाण की स्थिति की तुलना 'निवृति' प्राप्त 'दीप' की दशा के साथ करते हुए भी, उसे केवल 'तथता' की ही संज्ञा दी और नागार्जुन ने उसे, 'अस्ति नास्ति तदुभयानुभय चतुष्कोटि विनिर्मुक्त' अर्थात् सत्, असत्, सदसत् एवं न सत् न असत् जैसे चारों प्रकार के लक्षणों से रहित विचित्र 'शून्य', ठहराकर उसका परिचय दिया। परंतु इस प्रकार का आदर्श बौद्धधर्म के साधारण अनुयायियों के लिए बोधगम्य नहीं था और 'शून्य' का रूप तो सर्वथा निषेधात्मक ही प्रतीत होता था जिससे उनकी धार्मिक आकांक्षाओं का तृप्त होना संभव नहीं था। अतएव, असंग जैसे विज्ञानवादियों ने उसे सर्वप्रथम 'विज्ञप्ति मात्रता' अथवा शुद्ध ज्ञान का एक निश्चित रूप देना चाहा जिसमें तांत्रिक बौद्धों ने फिर 'महासुख' का भी समावेश कर दिया और यही धारणा वज्रयानियों के आदर्शानुसार 'वज्रधातु' अथवा 'वज्रसत्त्व' के रूप में परिणत हो गई। वज्रसत्त्व की संज्ञा उस तत्त्व को, संभवतः, इस कारण दी गई थी कि वह एक अच्छेद्य, अभेद्य तथा अविनश्वर वस्तु समझा गया था। इसलिए सरहपा, कण्हपा, इन्द्रभूति, आदि बौद्ध सिद्धों ने फिर उसी को 'सहज' जैसा एक अधिक उपयुक्त नाम दे दिया जिसकी अभिधा के अंतर्गत उपर्युक्त सभी बातें आ गईं और जिसे स्वीकार करने वालों का एक बौद्ध सहजिया संप्रदाय भी चल निकला।

'सहज' शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ ('सहजायते इति सहजः' के आधार

पर) 'जन्म के साथ-साथ उत्पन्न होने वाला अर्थात् किसी भी वस्तु का नैसर्गिक रूप हुआ करता है जिस कारण इसका प्रयोग परमतत्त्व के स्वरूप के लिए भी कर दिया गया। इसके सिवाय दार्शनिक दृष्टि से जहाँ यह' 'ब्रह्म' की भाँति, एक-मात्र सत्ता के रूप में स्वीकृत हुआ वहाँ विशुद्ध चित्त वाले साधकों के लिए यही मानव जीवन के चरम लक्ष्य 'निर्वाण' का भी बोधक मान लिया गया।[1] इसके विषय में कहा गया "सहज की न तो कोई व्याख्या की जा सकती है और न इसे शब्दों द्वारा व्यक्त ही किया जा सकता है। यह स्वसंवेद्य अथवा केवल अपने आप ही अनुभवगम्य है, यद्यपि इसके लिए गुरु चरणों की सेवा भी अपेक्षित होती है।"[2] साधक के उक्त विशुद्ध चित्त को 'बोधिचित्त' का नाम दिया गया था जो निर्वाण प्राप्ति के लिए उसके दृढ़ संकल्प होने का भी सूचक था। किंतु पूर्ववर्त्ती महायानी बौद्धों ने जहाँ उसके अंतर्गत 'शून्यता' एवं 'करुणा' के संयोग की कल्पना की थी वहाँ सहजयानियों ने उसकी आदर्श स्थिति को क्रमशः 'प्रज्ञा' एवं 'उपाय' के सम्मिलन का परिणाम बतलाया जो वस्तुतः सहजावस्था का ही द्योतक था। इस प्रकार 'सहज' की उपलब्धि के लिए जो शून्यता का पूर्णज्ञान (अनुभव) अपेक्षित था वह 'प्रज्ञा' के रूप में किसी सुंदरी रमणी का प्रतीक बन गया और जिस सार्वभौम करुणा को उक्त दशा की पूर्ण अनुभूति का आवश्यक साधन समझा गया था उसे 'उपाय' का नाम देकर एक ऐसे रूप में कल्पित किया गया कि वह किसी पुरुष का प्रतीक हो गया। इन दोनों के पारस्परिक संबंध का परिचय इस बात से मिलता है कि अद्वयवज्र ने शून्यता को उसीके 'प्रतिभास' (करुणा) की पत्नी के रूप में चित्रित किया है और बतलाया है कि वह बिना अपने पति के जीवित नहीं रह सकती और इस दम्पति की अभ्यर्थना पर गुरु ने कृपापूर्वक उनके बीच 'सहज प्रेम' का संबंध स्थापित कर दिया है।[3]

बौद्ध सहजिया संप्रदाय, वास्तव में एक तान्त्रिक साधकों का समाज था

[1] हेवज्रतन्त्र', पृष्ठ ३६

[2] वही, पृष्ठ २२

[3] 'प्रेमपंचक' (अद्वयवज्र संग्रह, पृष्ठ ४८)

और उसके प्रमुख सिद्धांतों का रूप भी तांत्रिक ही था। उसके अनुयायियों की मान्यता के अनुसार जो ब्रह्मांड में है वह सभी हमारे शरीर के भीतर भी अवस्थित है। यहाँ तक कि जिस प्रकार शैव तांत्रिकों ने मानव शरीर के अंतर्गत 'शिव' एवं 'शक्ति' के अस्तित्व की कल्पना की थी और उन्हें क्रमशः शीर्षस्थ सहस्रार में ऊपर तथा मूलाधार चक्र में नीचे की ओर स्थान दिया था उसी प्रकार इन लोगों ने भी 'प्रज्ञा' एवं 'उपाय' को रखा। अन्तर केवल इतना ही रहा कि ऊपर ठहरने वाले 'शिव' का रूप जहाँ पुरुषत्व का बोधक था और नीचे की 'शक्ति' स्त्रीत्व सूचित करती थी. वहाँ पर सहजिया संप्रदाय वालों ने ऊपर वाले तत्त्व को ही 'प्रज्ञा' का स्त्री रूप दे डाला और नीचे के 'उपाय' को पुरुष रूप में स्वीकार किया और ये ही सहज के विशिष्ट गुण (attributes) भी थे जिनके आधार पर उसके स्वरूप की वास्तविक अनुभूति संभव समझी जा सकती थी। सहजयानियों ने इसी कारण अपनी यौगिक अंतःसाधना को अधिक दृढ़ता प्रदान करने के लिए उसके समनांतर मुद्राओं की बाह्य साधना की भी परंपरा चलाई। ये मुद्राएँ किसी नीच कुल की स्त्रियाँ हुआ करती थीं। जिनके साथ वे अपना यौन सम्बन्ध स्थापित किया करते थे और इस बात में वे पूर्ण विश्वास रखते थे कि जिस प्रकार हम इनके साथ अपनी आत्मीयता बढ़ाते हैं। उसी प्रकार 'उपाय' एवं 'प्रज्ञा' का भी संयोग अधिकाधिक संभव होता जा रहा है और तदनुसार हमारी सहज साधना भी सफल हो रही है। वे अपनी मुद्रा साधना के अभ्यास में इतने संलग्न रहा करते थे कि, 'प्रज्ञा' को व्यक्तित्व प्रदान करके उसे संबोधित करते समय उनके मुख से सदा उसके लिए, डोम्बी, चाडाली, शवरी, योगिनी जैसे शब्दों का ही व्यवहार करना अधिक स्वाभाविक होता था। फलतः उनकी यौगिक अंतःसाधना क्रमशः बाह्य मुद्रा साधना तक ही सीमित रहने लगी और उसका परिणाम समाज के लिए कुत्सित बन गया।

(२)

उपर्युक्त वज्रयानियों एवं सहजयानियों का प्रमुख कार्यक्षेत्र बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा था जहाँ पर उन्हें सबसे अधिक प्रोत्साहन पालवंशी बौद्ध राजाओं

के शासन-काल में मिला। ईसा की आठवीं शताब्दी में जब कि उत्तरी भारत में गुर्जर-प्रतिहार अपने साम्राज्य की स्थापना में लगे हुए थे पूर्वी भारत में पाल-वंशी राजाओं ने अपना आधिपत्य जमाया। उक्त सन् की ११ वीं शताब्दी के प्रारंभ में उनकी शक्ति का ह्रास आरंभ हुआ और सन् १०५० में बंगाल का एक बहुत बड़ा भाग सेन-वंश के संस्थापक सामंत सेन के अधिकार में आ गया और इस वंश के राजाओं ने अपने हिंदू धर्म को प्रोत्साहन दिया। इन राजाओं का राज्य-काल ईस्वी सन् की तेरहवीं शताब्दी तक किसी न किसी रूप में बना रहा और उन लोगों ने अपने शासन द्वारा बौद्ध धर्म को उस क्षेत्र से निकाल कर हिंदू धर्म के पुनः स्थापन का पूरा प्रयत्न किया। फिर भी सामाजिक क्षेत्र में जहाँ पर बौद्ध धर्म का प्रभाव बहुत अधिक पड़ चुका था वे कोई क्रांतिकारी परिवर्त्तन नहीं ला सके। बौद्ध धर्म के प्रचलित सहजयानी संप्रदाय वालों की संख्या क्रमशः घटती-घटती अत्यंत कम हो गई और उसका स्थान उसी प्रकार हिंदू धर्म का वैष्णव संप्रदाय ग्रहण करता गया, किंतु जनता की सामाजिक स्थिति प्रायः जैसी की तैसी रह गई और उसके मानव जीवन-संबंधी दृष्टिकोण में किसी प्रकार का फेरफार नहीं लाया जा सका। फलतः हम देखते हैं कि धार्मिक क्षेत्र में भी सहज-यानियों ने जिन-जिन बातों को अधिक महत्त्व प्रदान किया था उनका मूल रूप लगभग एक समान बना रह गया और बहुत से प्रतीकों तक का केवल नामांतर ही हो सका।

हिंदू धर्म के वैष्णव संप्रदाय के जिस रूप का प्रचार उस समय सबसे अधिक हुआ उसके निर्माण का एक बहुत बड़ा श्रेय 'गीतगोविंद' काव्य के रच-यिता जयदेव कवि को दिया जाता है। जयदेव राजा लक्ष्मण सेन के दरबारी कवि कहे जाते हैं जो ईसा की बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वर्त्तमान था। जयदेव कवि ने राधा एवं कृष्ण की, यमुना नदी के तट पर होने वाली, रहस्यमयी केलि की जय मनाई[1] और उसका सजीव तथा साँगोपाँग वर्णन करने का प्रयत्न किया। राधा एक ऐसी गोपिका मानी गई जिसका कृष्ण के साथ किसी

[1] 'राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः' (गीतगोविन्द)

प्रकार का वैवाहिक संबंध नहीं था। वह कृष्ण के सौंदर्य की ओर पूर्णतः आकृष्ट थी और दोनों एक दूसरे के वियोग को सहन करने में असमर्थ समझे जाते थे। इस बात के लिए कोई पुष्ट ऐतिहासिक आधार उपलब्ध नहीं कि जयदेव कवि भी किसी स्त्री पर उसी प्रकार आसक्त थे और इस कारण उनके विविध वर्णनों का मूलस्रोत उनके व्यक्तिगत अनुभवों में निहित था। इस विचार से उन्हें किसी बौद्ध सहजिया कवि का अक्षरशः प्रतिनिधित्व करने वाला नहीं कहा जा सकता। परतु जहाँ तक राधा एवं कृष्ण के पारस्परिक आकर्षण का संबंध है और उसके रसपूर्ण वर्णनों द्वारा किसी धार्मिक अभ्युदय की उपलब्धि का प्रश्न है उनका यह कार्य सहजिया बौद्धों की उन अभिव्यक्तियों के ही निकट है जिनमें उन्होंने 'प्रज्ञा' एवं 'उपाय' के पारस्परिक संबंध तथा उनके एक दूसरे के साथ संयोग को अपनी मुद्रा-साधना के वर्णनों द्वारा प्रकट किया है। बौद्ध सहजिया कवि जहाँ नैरात्मा की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है और उसके काल्पनिक आलिंगन की रहस्यमयी अनुभूति को सहजानंद अथवा सहजोपलब्धि का महत्त्व देता है वहाँ जयदेव राधा एवं कृष्ण के पारस्परिक अनुनय-विनय का वर्णन करते हैं और उनकी प्रेम-क्रीड़ा के रहस्योद्घाटन द्वारा स्वयं भी प्रेमानंद में विभोर हो जाते हैं।

जयदेव कवि का 'गीतगोविन्द' काव्य संस्कृत भाषा में रचा गया था और उस पर 'ब्रह्मवैवर्त' और 'श्रीमद्भागवत' में वर्णित रासलीलादि का प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ा था तथा उसमें एक भक्त हृदय के उद्गारों के भी कतिपय उदाहरण मिलते थे। उस गीत के रचयिता ने 'ब्रह्मवैवर्त' की प्रेमिका गोपियों में से राधा को ही विशेष महत्त्व दिया जिस कारण कृष्ण एवं राधा उस रचना के क्रमशः नायक एवं नायिका के रूप में दीख पड़ने लगे और वे उसी प्रकार 'उपाय' एवं 'प्रज्ञा' के स्थानापन्न से भी बन गए। किंतु बौद्ध सहजिया कवि जहाँ अपने को 'उपाय' के साथ एक रूप बना डालते थे और भावावेश में नैरात्मा (प्रज्ञा) के साथ स्वयं भी रमने लग जाते थे वहाँ भक्त कवि जयदेव राधा एवं कृष्ण को केलि का केवल अलग से ही अनुभव कर आनंदित होने लगे। जयदेव कवि की इस वर्णन-शैली का अनुसरण पीछे विद्यापति ने किया

और मैथिली भाषा में उन्होंने अनेक पदों की रचना की। विद्यापति के अनुकरण में फिर अन्य प्रांतीय भाषाओं में भी काव्य रचना आरंभ हुई और उसकी परंपरा बहुत दिनों तक चली। किंतु बंगाल प्रांत की भाषा बंगला की पदावलियों में इसके दो भिन्न-भिन्न रूप लक्षित हुए। विद्यापति के समसामयिक चडीदास की रचनाओं में इसका एक ऐसा रूप मिला जो बौद्ध सहजिया कवियों की धारणा के अधिक अनुकूल था। चंडीदास भी एक वैष्णव कवि थे, किंतु उन्होंने न केवल राधा एवं कृष्ण की केलि को कुछ भिन्न दृष्टिकोण से देखा, अपितु उन्होंने अपने जीवन को भी एक ऐसा रूप दे दिया जो बौद्ध सहजयानियों की मुद्रा-साधना के प्रायः समान प्रतीत हुआ। उन्होंने रामी नाम की किसी रजकी को अपनी प्रेमपात्री के रूप में स्वीकार किया और उसे 'वेदमाता' तक कहने में संकोच नहीं किया उन्होंने 'सहज' शब्द को भी बहुत बड़ा महत्त्व प्रदान किया जो बौद्ध सहजयानियों के लिए अंतिम लक्ष्य का आदर्श था और उनके अनुकरण में रचना करने वाले वैष्णवों का एक पृथक् वैष्णव सहजिया संप्रदाय ही प्रतिष्ठित हो गया। कवि विद्यापति का न्यूनाधिक अक्षरशः अनुसरण करने वाले लोग, इसके विपरीत, शुद्ध वैष्णव कवि कहलाकर प्रसिद्ध हुए।

(३)

वैष्णव सहजिया साधकों और कवियों की मान्यताएं उक्त बौद्ध सहजिया संप्रदाय के सिद्धान्तों से कई बातों में मिलती-जुलती थी। फिर भी वैष्णव सहजिया लोगों की कुछ अपनी विशेषताएं भी थीं जो उन्हें बौद्ध साधकों से भिन्न श्रेणी में ला देती थी। चंडीदास ने 'सहज' के विषय में कहा है,

सहज सहज सबाइ कहय, सहज जानिबे के।
तिमिर अन्धकार ये हैयाछे पार, सहज जेनेछे से ॥[1]

अर्थात् 'सहज' के विषय में तो सभी चर्चा किया करते हैं, किंतु (दुःख की

[1] Dr. D. C. Sen: 'Bengali Language and Literature' p 39 (Footnote).

बात है कि) सहज के वास्तविक अभिप्राय को कोई भी नहीं जानता। सहज को केवल वही जान सकता है जिसने (मनोविकारों अथवा इंद्रिय वृत्तियों के घनीभूत) अन्धकार को पार कर लिया है। सहज की साधना करते समय साधक के लिए इस बात में दृढ़ विश्वास का रहना आवश्यक है कि मानव परमात्मतत्त्व का ही मूर्त स्वरूप है, प्रेम उस तत्त्व का सारभूत है। इसी कारण, प्रेम का प्रत्येक मानव के हृदय में पाया जाना उसके जन्म से हो सिद्ध है। फिर भी वह प्रेम उस कोटि का नहीं है जिसे 'काम' की संज्ञा दी जाती है और जिसकी गणना बहुधा उक्त मनोविकारों में ही की जाती है। इसलिए सहज-साधना के समय जब कामोद्रेक संबंधी अवसर उपस्थित होते हैं तो साधारण साधकों को 'रसिक राज' की स्थिति बनाये रखने के लिए असंभव को संभव करके दिखलाना पड़ जाता है। चंडीदास का इस कारण यह भी कहना है—

ये जन चतुर सुमेरु शेखर, सुताय गांथिते पारे।
माकड़सार जाले मातङ्ग बांधिले, ए रस मिलये तारे॥[1]

अर्थात् जो कोई इस बात में समर्थ हो कि हम सुमेरु पर्वत के शिखर को एक धागे में लटका लेंगे अथवा मकड़ी के साधारण जाले से किसी मत्त हाथी को बांध लेंगे वही इस प्रेम-रस के अनुभव का अधिकारी हो सकता है। इस प्रेमरसमय सहज की अनुभूति के सामने इन वैष्णवों को किसी प्रकार के मोक्ष की भी आकांक्षा नहीं रहा करती।

परंतु इस प्रेमरूपी सहज का वास्तविक रहस्य क्या है और इसे मनोवैज्ञानिक शब्दावली की सहायता से किस प्रकार व्यक्त किया जाय। वैष्णव सहजिया लोगों के सिद्धांतानुसार श्रीकृष्ण परमतत्त्व रूप हैं तथा राधा उनके नैसर्गिक प्रेम की अमित शक्ति स्वरूपिणी हैं। वे भगवान् श्रीकृष्ण के उस विशिष्ट गुण का प्रतिनिधित्व करती हैं जिसे 'ह्लादिनी' शक्ति की भी संज्ञा दी जाती है और इस प्रकार, राधा के उनमें स्वभावतः निहित रहने के कारण, दोनों

[1] Dr. D. C. Sen. 'Bengali Language and Litrature', P. 40.

में किसी अंतर का होना असंभव समझा जा सकता है। राधा एवं कृष्ण के बीच जो वियोग की कल्पना की जाती है वह केवल इसीलिए कि भगवान् अपनी लीला के लिए ऐसी व्यवस्था स्वयं किया करते हैं। वे स्वयं एक ओर उपभोग्य वस्तु बनते हैं और दूसरी ओर उसके उपभोक्ता के रूप में भी प्रस्तुत रहा करते हैं। यह सब कुछ उनकी नित्य लीला है और मानव भी उनका ही अंश रूप होने के कारण उक्त प्रकार की प्रेमानुभूति के लिए स्वभावतः सचेष्ट रहा करता है। वैष्णव सहजिया संप्रदाय के अनुयायियों की साधना, ऐसी मान्यताओं के ही आधार पर, चला करती है। वे अपने भगवान् श्रीकृष्ण की नित्य लीला का अनुभव करने तथा उसके द्वारा सदा आनंदित रहने के लिए उसका सजीव वर्णन किया करते हैं। वे चाहते हैं कि उस नित्य लीला का प्रत्यक्ष अनुभव करें और उसकी अनुभूति के द्वारा आत्मविभोर बने रहें। जैसा विद्यापति ने कहा है—

दुहुं जन आकुल, दुहुं कर कोरा।
दुहुं दरसने विद्यापति भोरा॥

अथवा जिस प्रकार उसी भाव को चंडीदास ने व्यक्त किया है—

आजि मलयानिल मृदु मृदु बहत, निर्मल चांद प्रकासा।
भाव भरे गद्गद् चामर ढुलायत, पासे रहि चंडिदासा॥[1]

जिससे स्पष्ट है कि ये कवि अपने को उस काल्पनिक स्थिति में भी रखकर उसका अनुभव इस प्रकार करना चाहते हैं जैसे वह सर्वथा वास्तविक और प्रत्यक्ष हो।

परन्तु वैष्णव सहजिया के साधक केवल इतने से ही संतुष्ट नहीं रह जाते। पुराणों के अनुसार राधा नाम की गोपी व्रज के किसी समृद्ध गोप की विवाहिता पत्नी थी जो श्रीकृष्ण के ऊपर आसक्त हो गई थी। वह उनकी परकीया प्रेमिका थी। वह अपने पति, परिवार एवं घर-बार आदि सभी प्रकार

[1] Dr. S. B. Das Gupta : 'Obscure Religious Cults' Quoted on p. 146.

के मनोमोहक विषयों का परित्याग कर उन्हें अपनाने के लिए उद्यत थी। वह श्रीकृष्ण को आत्म-समर्पण द्वारा अपनाकर उनकी प्रेम-पात्री बनी थी और दोनों ने पारस्परिक प्रेम का अनुभव किया था। वैष्णव सहजिया वालों को विश्वास है कि श्रीकृष्ण एवं राधा की उपर्युक्त नित्य लीला इसी पौराणिक प्रसंग का अप्राकृतिक रूप है। उनका कहना है कि प्रत्येक मनुष्य के अंतर्गत श्रीकृष्ण का आध्यात्मिक तत्त्व वर्त्तमान है जिसको 'स्वरूप' कह सकते हैं और इसके साथ ही उसमें एक निम्नतर स्तर का भौतिक तत्त्व भी है जिसे उसी प्रकार केवल 'रूप' कह सकते हैं। इसके सिवाय प्रत्येक स्त्री के अंतर्गत भी ठीक वैसे ही 'स्वरूप' एवं 'रूप' की कल्पना की जा सकती है। ये 'स्वरूप' एवं 'रूप' पुरुष तथा स्त्री को क्रमशः श्रीकृष्ण एवं राधा के पार्थिव आविष्करणों में परिणत कर देते हैं। फलतः प्रत्येक पुरुष अथवा स्त्री को अपने 'रूप' को विस्मृत कर देना चाहिए और अपने 'स्वरूप' की स्थिति में श्रीकृष्ण अथवा राधा बन जाना चाहिए। इसी बात को उन साधकों ने इस प्रकार भी बतलाया है कि प्रत्येक पुरुष एवं स्त्री को अपने 'रूप' के ऊपर 'स्वरूप' का 'आरोप' कर लेना चाहिए और उसीकी सहायता से अपने पार्थिव प्रेम को भी अपार्थिवता प्रदान कर देना चाहिए। इन साधकों का आध्यात्मिक प्रेम कभी किसी भगवान् के प्रति नहीं हुआ करता। वह तत्त्वतः वही है जो श्रीकृष्ण एवं राधा की नित्य लीला में रहा करता है और जिसका परिचय हमें प्रत्येक पुरुष एवं स्त्री के भीतरी स्वरूपों द्वारा मिल सकता है। वैष्णव सहजिया लोगों ने इसी कारण, मानव जीवन को बहुत बड़ा महत्त्व दिया है और उसको सर्वश्रेष्ठ बतलाया है। उन्होंने यह भी कहा है कि बिना 'रूप' की सहायता के 'स्वरूप' की उपलब्धि कदापि संभव नहीं है और इसीके अनुसार उक्त अपार्थिव प्रेम की अनुभूति के लिए किसी परकीया के साथ प्रेम की साधना में निरत होना भी परमावश्यक है।

(४)

वैष्णव सहजिया लोगों के उपर्युक्त श्रीकृष्ण एवं राधा शैव तांत्रिकों के 'शिव' एवं 'शक्ति' का स्मरण दिलाते हैं। इनकी साधना में भी एक प्रकार के

मानसिक विकास को ही महत्त्व दिया गया है जो उन तांत्रिकों को परम ध्येय था। इसके सिवाय इन लोगों ने मानव शरीर के भीतर कतिपय स्थानों की भी कल्पना की थी और तांत्रिकों ने जहाँ उन्हें भिन्न-भिन्न चक्रों के नाम दिये थे और उन्हें क्रमशः नीचे से ऊपर की ओर अवस्थित बतलाया था वैसे ही इन्होंने उन्हे 'सरोवरों' संज्ञा दी थी। इस संप्रदाय के 'निगूढ़ार्थ प्रकाशावली' ग्रन्थ में कहा गया है कि इन सरोवरों की संख्या सात है और इन्हें नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः घोर सरोवर, नाभिसरोवर, पृथुसरोवर, मानसरोवर, क्षीरसरोवर, कंठ सरोवर तथा अक्षय सरोवर बतलाया गया है। इनमें से प्रत्येक सरोवर के भीतर एक-एक कमल भी विद्यमान है जिसके दलों की संख्या एक दूसरे से भिन्न है। इन सरोवरो की स्थिति के अनुसार साधकों की श्रेणी का भी परिचय मिला करता है। उदाहरण के लिए साधारण साधक की पहुँच नाभिसरोवर तक समझी जाती है जहाँ 'पवर्त्त' श्रेणी वाला क्षीरसरोवर तक और 'सिद्ध' श्रेणी वाला 'अक्षय' सरोवर तक को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार तांत्रिकों की ही भाँति ये लोग भी दक्षिण मार्ग का परित्याग कर वाम मार्ग को स्वीकार करते जान पड़ते हैं। इनकी मान्यताओं के अनुसार भक्ति का रूप भी शास्त्रीय न होकर न्यूनाधिक स्वतंत्र होना चाहिए जिस कारण इन्होंने वैधी भक्ति से कहीं अधिक रागानुगा को स्वीकार किया है और इसके अंतर्गत क्रमशः शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर स्थान दिया है। परन्तु इस प्रकार की बातों का समावेश इस संप्रदाय में कदाचित् चैतन्य के गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय के प्रभावों द्वारा पीछे हो गया।[1]

उपर्युक्त शिव एवं शक्ति के मिलन आदि की चर्चा से जान पड़ता है कि शैवों का भी कोई सहजिया संप्रदाय अवश्य रहा होगा। किन्तु इस बात के समर्थन में पर्याप्त साहित्य उपलब्ध नहीं है और उनकी साधना का रूप भी अधिकतर नाथों द्वारा ही प्रभावित दीखता है। नाथ पंथ की साधना और सहजिया

---

[1] Manindra Mohan Bose: 'Post Chaitanya Sahajiya Cult' pp 125-6.

लोगों की विविध क्रियाओं में एक महान् अंतर इस बात का है कि नाथपंथी साधक जहाँ पर अपने अंतिम लक्ष्य के अंतर्गत विभिन्न सिद्धियों का भी समावेश करते हैं वहाँ सहजिया लोग इसके नितात विरुद्ध है। सहजिया लोगो का कहना है कि सिद्धियों की उपलब्धि के लिए साधना करना केवल चमत्कार-प्रदर्शन के लिए ही हो सकता है। मानव जीवन के चरम लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति के साथ उसका कोई भी संबंध नही। इसके सिवाय यद्यपि सहजिया लोगों के यहाँ काया-साधन को भी महत्त्व दिया जाता है, किन्तु नाथ पंथी साधक जहाँ उसके द्वारा अमरत्व प्राप्त करने की अभिलाषा रखते हैं वहाँ इन लोगों का लक्ष्य केवल शुद्ध अपार्थिव प्रेम की उपलब्धि ही हुआ करता है। वास्तव में इस विशिष्ट उद्देश्य के प्रति ये लोग इतने अधिक आकृष्ट रहा करते हैं कि केवल इसीकी ओर उनकी सारी चेष्टाएँ केन्द्रित रहती है। सहजिया वैष्णव इस बात में शुद्ध अथवा गौड़ीय वैष्णवो से भी कहीं बढकर कहे जा सकते हैं। परकीया के माध्यम द्वारा प्रेम-साधना की चर्चा जहाँ गौड़ीय वैष्णवो के यहाँ केवल सिद्धांत रूप से ही हुआ करती है वहाँ सहजिया लोग उसे अपने प्रत्यक्ष जीवन में उदाहृत भी कर देते हैं।

सहजिया वैष्णवों ने परकीया के दो भेद बतलाये हैं जिनमें से एक को गौण और दूसरे को मुख्य कहते है। गौण परकीया वा 'मंजरी' प्रेम भाव के विकास के लिए शारीरिक संपर्क में रखी जाती है और उसे, इसी कारण वाह्य वा प्राकृत भी कहा जाता है, किन्तु मुख्य परकीया का रूप केवल मानसिक हुआ करता है और उसे मर्म, अंतरंग वा अप्राकृत भी कहते हैं। वाह्य परकीया का पति अपने घर वर्तमान रहा करता है और वह इतनी सुन्दरी हुआ करती है।

नयने लागिया रूप हृदये पशिबे।
हृदय पशिबा मन करे आकर्षण।
तदुपरि करिबेक ताहार साधन॥[१]

---

[१] Manindra Mohan Bose : Quoted in "Post Chaitanya Sahajiya Cult" p. 59.

अर्थात् प्रथम दृष्टिपात के होते ही वह साधक के हृदय को प्रभावित कर देती है और उसके मन को वश में कर लेती है। इसके सिवाय उसका स्वभाव भी ऐसा हुआ करता है जो साधक के कभी प्रतिकूल नहीं पड़ता। ऐसी ही परकीया को किसी उपयुक्त आसन पर बिठाकर उसके चरण धोये जाते हैं और उसे चंदन द्वारा चर्चित करके मंत्रों के साथ उसकी पूजा की जाती है जिसके आठ भिन्न-भिन्न रूप हैं। सहजिया लोगों का कथन है कि इस प्रकार विधिवत् आराधना करने से सुषुम्ना नाड़ी द्वारा क्रमशः शक्ति का उत्थान आरम्भ हो जाता है। परन्तु मर्म वा अंतरंग परकीया की साधना में परमात्म-तत्त्व के ज्ञानपूर्वक उसके प्रति अपने को समर्पित कर देना पड़ता है और यदि साधक का प्रेमभाव अधिक गंभीर हो जाता है तो वह स्वयं अपने को ही किसी प्रेमिका के रूप में परिणत कर देता है।

प्रेमभाव की शुद्धता एवं गंभीरता के विचार से वैष्णव सहजिया लोगों की तुलना सूफ़ियों और बाउलों से भी की जा सकती है। सूफ़ी लोग इस्लाम धर्म के अनुयायी फकीरों के रूप में पाये जाते थे और परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रेम-साधना को महत्त्व देते थे। वे लोग भी वैष्णव सहजिया लोगों की भाँति, इश्क हकीकी (ईश्वरीय प्रेम) की प्राप्ति के लिए इश्क मजाजी (पार्थिव प्रेम) की साधना को आवश्यक समझते थे और इस बात को प्रेम-कहानियों द्वारा उदाहृत भी किया करते थे। किन्तु सहजिया वैष्णवों के यहाँ वैसे दृष्टांतों का कोई महत्त्व नहीं था और वे इश्क मजाजी की साधना स्वयं परकीया के साथ करते थे। इस प्रकार सूफ़ियों की साधना का ढंग जहाँ एक प्रकार से व्याख्यात्मक मात्र था वहाँ सहजिया लोगों का पूर्णतः तांत्रिक था। सूफ़ी लोग अपना प्रेम सीधे ईश्वर के ही प्रति दिखलाना चाहते थे जो वैष्णव सहजिया साधना-प्रणाली से भिन्न कहा जा सकता है। उन सूफ़ियों द्वारा न्यूनाधिक प्रभावित बाउल साधकों की प्रेम-साधना भी इन सहजिया लोगों के ही समान समझी जाती है। किन्तु प्रेमभाव की विशुद्धता के एक समान होते हुए भी, इन दोनों प्रकार के साधकों के, उसके प्रति दृष्टिकोण में महान् अंतर था। सहजिया लोगों का प्रेम राधा एवं कृष्ण रूपी दो व्यक्तियों के स्वरूपाश्रित

प्रेम की अपेक्षा करता था जहाँ बाउलों का प्रेम 'मनेर मानुस' अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में वर्तमान किसी अलौकिक प्रेम-पात्र के प्रति उसका प्रदर्शित प्रेम था। पहले में एक प्रकार का द्वैत भाव है जो दूसरे में नहीं है।

(५)

वैष्णव सहजिया संप्रदाय के सिद्धांत और उसकी साधना में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण वह महत्त्वपूर्ण हो जाता है। प्रत्येक मानव के भीतर जो उसने 'स्वरूप' एवं 'रूप' नामक दो भिन्न-भिन्न कोटियों के स्वभाव की स्थापना की है वह न केवल उसकी धार्मिक विचारधारा में बहुत बड़ा महत्त्व रखता है, अपितु वह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य भी है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती और जिसके आधार पर हम चाहें तो मानव जाति के सुधार की एक अच्छी योजना बना सकते हैं। इसके सिवाय राधा एवं कृष्ण नामक दो अलौकिक व्यक्तियों का जो आदर्श उसके साधकों के समक्ष रखा जाता है वह भी सर्वथा सांप्रदायिक नहीं है। वे दोनों इस संप्रदाय के अनुयायियों के लिए वस्तुतः केवल प्रतीकों का ही काम करते हैं। कृष्णतत्त्व एवं राधातत्त्व उनके अनुसार प्रेमतत्त्व के सारस्वरूप हैं और उनके आधार पर अनेक प्रकार के रसतत्त्व एवं लीलातत्त्व की सुन्दर योजना प्रस्तुत की जाती है।[1] वे सांख्य दर्शन के 'पुरुष' एवं 'प्रकृति' अथवा आधुनिक विज्ञान के भौतिक तत्व एवं शक्ति (Matter and Energy) का ही प्रतिनिधित्व करते हैं और उनकी नित्यलीला सृष्टि-क्रम का वह अनवरत स्फुरण है जिसके सौंदर्य का अनुभव हम नित्य कर सकते हैं। इन सहजिया लोगों की दृष्टि में क्षीरसागरशायी विष्णु तक उन हम साधारण मानवों से बढ़कर नहीं जो निरंतर जन्म धारण करते और मरते रहा करते हैं क्योंकि विश्व के व्यापक नियमानुसार ऐसे देवों की भी सदा यही गति हुआ करती है।[2] सांख्य दर्शन की 'प्रकृति'- 'पुरुष' के

---

[1] 'विवर्त्त विलास' पृष्ठ २०

[2] संस्कार येई ब्रह्मांडेते सेई, सामान्य ताहार नाम
मरणे जीवने करे गतागति, क्षीरोद सायरे धाम॥
'चंडीदास पदावली' पृष्ठ २४८

कंधा पर चढ़ी हुई उसका मार्ग-निदर्शन करती जान पड़ती है जहाँ सहजिया लोगों के राधा-कृष्ण परस्पर प्रमालिंगन द्वारा ही विश्व की लीला को संचालित करते हैं और साथ ही मानव जाति को अंतःप्ररणा भी प्रदान करते हैं।

वास्तव में इस संप्रदाय की मान्यताओं के अनुसार विश्व में मनुष्य ही सभी कुछ है। उससे बढ़कर यहाँ और कुछ भी नहीं है।[1] परन्तु वह मनुष्य कौन है और उसकी विशेषताएँ क्या हैं इस बात को सभी लोग नहीं समझ पाते। उसका परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है—

मानुष मानुष सबाइ कहये मानुष के मन जन !
मानुष रतन मानुष जीवन, मानुष पराण धन ॥
भरमे भुलये अनेक जन, मरम नाहिक जाने ।
मानुषेर प्रेम नाहि जीवलोके, मानुष से प्रेम जाने ॥
मानुष यारा जीयन्ते मरा, सेई से मानुष सार ।
मानुष लक्षण महाभावगण. मानुष भावेर पार ॥
मानुष नाम विरल धाम, विरल ताहार रीति ।
चंडीदास कहे सकलि विरल, के जाने ताहार रीति ॥[2]

अर्थात् मनुष्य के विषय में सभी चर्चा करते हैं, किन्तु उसके वास्तविक रहस्य को सभी नहीं जान पाते। मनुष्य रत्न स्वरूप है और वही सृष्टि का जीवन भी है तथा वही वह उत्तम पदार्थ है जो सभी का सर्वस्व कहा जा सकता है। बहुत से लोग केवल उसके वाह्य रूप के भ्रम में पड़ जाते हैं और उसके भीतरी रहस्य को नहीं जानते जो मनुष्यत्व का सार है। सच तो यह है कि मनुष्य का निर्माण प्रेम से हुआ है—वह प्रेम जो इस जगत् का नहीं है, अपितु लोकोत्तर है और मनुष्य कहे जाने वाले को उसका मर्म जानना चाहिए। आदर्श

---

[1] **शुन हे मानुष भाई !**
सबार ऊपरे मानुष सत्य, ताहार उपरे नाई ॥ चंडीदास ॥

[2]. **चंडीदास पदावली**

मनुष्य वह है जिसका जीवन जीते जी मृतक के समान है। उसकी विशेषता यह है कि उसे उन महाभावों वाला होना चाहिए जो प्राकृत नहीं है और ऐसे मनुष्य विरले हुआ करते हैं तथा उनका रंग-ढंग भी भिन्न होता है। चंडीदास का कहना है कि सृष्टि की सभी विरल वस्तुएँ मनुष्य के भीतर निहित हैं और उसकी रहन-सहन भी विलक्षण होती है।

विश्व विकासशील है और उसका प्रत्येक पदार्थ किसी न किसी रूप में एक दूसरे का सहायक हो उसे अग्रसर करता रहता है। उसके भीतर कोई भी वस्तु सर्वथा नष्ट नहीं होती और न वह अनुपयोगी कहलाने योग्य है। अतएव वास्तिवक मनुष्य को 'जीते जी मृतक के समान' आचरण करने का अभिप्राय केवल यही हो सकता है कि वह अपने जीवन में पृथकत्व का भाव जोड़ दे तथा जिस प्रकार बीज अपने को मिट्टी में मिला कर एक पौधे का अस्तित्व ला देता है, पौधा फिर पुष्पित होकर और अपने फूल को गिराकर बीज उत्पन्न करता है और बीज फिर पुनर्जीवन के क्रम को पूर्ववत् अग्रसर होने में सहायता पहुँचाता है उसी प्रकार वह भी अपने व्यक्तित्व का समर्थन कर मानव समाज को आगे बढ़ने में अपना सहयोग प्रदान करता चले। त्याग ही प्रेम का सार है। भाव योगियों के लिए यह प्रसिद्ध है कि जैसे-जैसे उनकी मनोवृत्तियाँ उनके ध्येय तत्त्व में रमती जाती हैं वैसे-वैसे उनकी अहंता का क्रमिक ह्रास होता जाता है और उसी क्रम से उनके आराध्य की व्यापकता में वृद्धि भी होती जाती है। फलतः अंत में जब वे पूर्णतः सिद्ध हो जाते हैं तो उनके लिए उनका लक्ष्य ही उनके व्यक्तित्व का भी स्थान ग्रहण कर लेता है। उनकी दृष्टि उसीके रंग में रँग जाती है और उनके विचार में वह सार्वभौमता आ जाती है जो वास्तविक विश्वप्रेम के ही कारण संभव है। वैष्णव सहजिया के लिए मनुष्य के अतिरिक्त किसी अन्य आराध्य की आवश्यकता नहीं है। वह एक सच्चा मानवतावादी है। उसका उद्देश्य न केवल शुद्ध प्रेम की अनुभूति है, अपितु उसकी सफल साधना द्वारा इस विश्व को स्वर्गीयता प्रदान करना भी है।

वैष्णव सहजिया संप्रदाय बंगाल प्रान्त में, वहाँ की कतिपय स्थानीय

प्रवृत्तियों के कारण स्थापित हुआ था। इसकी कुछ अपनी विशेषताएँ थीं जिस कारण यह शुद्ध वैष्णव संप्रदाय अथवा गौड़ीय संप्रदाय से बहुत कुछ भिन्न समझा जाता था, परन्तु इसके अनुयायियों ने इसकी साधना एवं साहित्य को सदा गुप्त रखने का प्रयत्न किया जिस कारण इसके प्रचार में उतनी सफलता नहीं मिल सकी जितनी गौड़ीय संप्रदाय को मिलती गई। गौड़ीय संप्रदाय इसके पीछे स्थापित होकर भी दूर-दूर तक प्रचलित हो गया और कुछ अंशों तक इसके अनुयायियों को भी प्रभावित करने लगा। फिर भी इस संप्रदाय के साहित्य से पता चलता है कि १७ वीं ईस्वी शताब्दी के आरम्भ से, अथवा सन् १५६८ ईस्वी से ही, यह गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय से पृथक् माना जाने लगा था और अपनी प्रारम्भिक विशेषताओं के प्रचार में उद्योगशील भी था।[1] वैष्णव सहजिया के अतिरिक्त बंगाल प्रांत के आउल-बाउल, सांई, दरवेश और कर्ताभाजा भी कुछ ऐसे संप्रदाय हैं जो प्रायः 'सहजिया' कहलाते हैं।

---

[1] Manindra Mohan Bose "Post Chaitanya a sahajiya cult" (University of Calcutta.) p. 202.

बाउलों की प्रेम-साधना

'बाउल' शब्द यों हिन्दी के 'बाउर' का एक रूपांतर मात्र-सा दीखता है, किन्तु इसकी व्युत्पत्ति के विषय में भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार प्रकट किये जाते हैं और उन्हींके अनुसार इसका अर्थ समझने की भी चेष्टा की जाती है। कुछ लोग इसका संबंध 'वायु' शब्द के साथ जोड़ना चाहते हैं जिसे वे कभी-कभी 'स्वाभाविक शक्ति के संचार' का बोधक मानते हैं अथवा 'श्वास-प्रश्वास' का समानार्थक बतलाते हैं। इस प्रकार, इन दोनो ही दशाओं में वे 'बाउल' शब्द की कोई न कोई योगपरक व्याख्या करने लग जाते हैं। इसके विपरीत कुछ दूसरे लोगो का अनुमान है कि यह शब्द यातो 'बातुल' का रूपांतर है अथवा 'ब्याकुल' का ही एक बिगड़ा हुआ रूप है जिसके आधार पर इससे तात्पर्य यातो उस व्यक्ति का है जो एक पागल की भाँति रहा करता हो अथवा जो अपने आध्यात्मिक जीवन के आदर्श की उपलब्धि के निमित्त सदा आतुर और अधीर बना फिरता हो। परंतु 'बाउल' शब्द इस समय पारिभाषिक रूप ग्रहण कर चुका है और यह उन विशेष प्रकार के साधकों के लिए भी प्रयुक्त होता है जो इस नाम के एक वर्ग में आते हैं। तदनुसार इसका वास्तविक अभिप्राय कदाचित् उस कथन द्वारा प्रकट होता है जो नरहरि नामक एक बाउल की ही पंक्तियों में इस प्रकार आया है—"अरे भाई, मैं बाउल इसलिए कहलाता हूँ कि मैं न तो किसी मालिक का आज्ञा-पालन करता हूँ, न कोई शासन मानता हूँ और न किसी विधि-निषेध वा क्रमागत आचार-व्यवहार का ही पाबंद हूँ। मुझ पर मानव समाज के भीतर प्रचलित पारस्परिक भेदों का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता और मैं स्वयं अपनी आत्मगत प्रेम-धारा में सदा मग्न रहा करता हूँ। प्रेम के क्षेत्र में किसी प्रकार का भी पृथकत्व नहीं, निरंतर सम्मिलन का भाव बना रहता है और मैं सभीके साथ आनंद के गीत गाने और नाचने में मस्त हूँ।[1]"

---

[1] क्षितिमोहन सेनः 'मिडीवल मिस्टीसिज्म आफ़ इंडिया' (पृष्ठ २०३ पर उद्धृत कुछ पंक्तियों का अनुवाद)

बाउल

इस प्रकार 'बाउल' कहलाने वाले साधकों की विशेषता उनकी स्वच्छंद वृत्ति एवं प्रमानंद में ही लक्षित होती है। उन्हें सांसारिक प्रपंचों से कुछ भी प्रयोजन नहीं और न वे किसी प्रकार के भी अनुशासन को कोई महत्त्व देना चाहते हैं। उनका हृदय प्रेम द्वारा सदा ओत-प्रोत रहा करता है जिस कारण वे अपने भीतर एक विशेष प्रकार के आनंद का अनुभव करते एवं प्रेमोन्मत्त बने रहते हैं। ऐसी दशा में उनके सामने भेदाभेद वा विधि-निषेध का प्रश्न ही नहीं उठा करता। उनमें किसी भी जाति वा धर्म के व्यक्ति सम्मिलित हो सकते हैं और वे किसी भेष वा विशिष्ट आचार-व्यवहार को नियमित रूप से मानने का उत्तरदायित्व नहीं स्वीकार कर सकते। उन्हें न तो किसी प्रकार के स्वर्गादि की आकांक्षा रहती है और न वे किसी पुण्य-कार्य को, तज्जन्य किसी लाभ के लोभ से, करते हैं। वे अपने को उस 'रसिक' के रूप में व्यवहार करने वाला समझते हैं जो किसी 'फल' की आशा न करके केवल 'फूल' का ही रस लेता है।[1] उनकी भाव-भंगियों द्वारा प्रतीत होता है कि वे सदा किसी अनुपम सौंदर्य के वातावरण में रहते हैं जिसमें उनकी दृष्टि लगी रहा करती है। उन्हें इधर-उधर दृष्टिपात करने का अवकाश भी नहीं रहता और न वे किसी अन्य प्रकार के सुख समझते ही जान पड़ते हैं। इन 'रसिक' बाउलों के साथ बातचीत करते समय इनके मुख से बहुधा प्रेम-रसभरी पंक्तियों की एक धारा-सी फूट पड़ती दीखती है। ये तन्मय होकर सहसा गाने लगते हैं और उसीके माध्यम द्वारा अपने हृदय के उद्‌गारों को व्यक्त भी करते हैं। ये अधिकतर भ्रमणशील हुआ करते हैं और ईरानी सूफ़ियों अथवा प्राचीन बौद्ध भिक्षुओं की भाँति न्यूनाधिक निर्लिप्त भाव के साथ विचरण करते पाये जाते हैं। ये अपनी दाढ़ी वा मूंछों के बाल नहीं मुंडवाते, किन्तु शरीर पर एक ढीलाढाला लंबा कुर्त्ता-सा आवरण डाले हुए दीख पड़ते हैं।

इन बाउल साधकों का सर्वप्रथम परिचय ईसा की १७ वीं शताब्दी के

---

[1] **"फलेर आशा करे नासे, फूलेर मधु पान करे से,**
सेई त रसिक जाना।" ('हारामणि,' पृष्ठ २८)

अंत अथवा उसकी १५ वीं के प्रथम भाग से मिलता है। १६ वीं, १७ वीं एवं १८ वीं शताब्दी में इनका प्रचार बंगाल प्रांत के प्रायः सभी भागों में हो गया था और १९ वीं शताब्दी के आरंभ में इस संप्रदाय ने वहाँ के शिक्षित समुदाय का भी ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया। पश्चिमी बंगाल में इनका प्रधान केंद्र नदिया के आस-पास पाया जाता है और वे अधिकतर वैष्णव धर्म के अनुयायियों से मिलते-जुलते हैं, किंतु पूर्वी बंगाल वा पाकिस्तान में ये लोग विशेषतः इसलाम धर्म के अनुयायियों में ही मिलते हैं और वे बहुत कुछ सूफ़ियों के समान दीख पड़ते हैं। ये देहात में रहना और सादगी का जीवन व्यतीत करना अधिक पसंद करते हैं और देखने में गायक भिक्षुकों-से जान पड़ते हैं। १९ वीं शताब्दी से बहुत से शिक्षितों का भी समावेश हो जाने के कारण इनमें प्रायः सभी स्तर के व्यक्ति पाये जाते हैं, किंतु उनमें प्रधानता साधारण श्रेणी के ही लोगों की है और परिचय पूछने पर सभी अपने को केवल 'बाउल' कह के ही रह जाते हैं। इनका कहना है कि हम लोग मानव जाति के नहीं हैं अपितु पक्षी हैं जो पृथ्वी पर चलने की अपेक्षा आकाश में उड़ना ही अधिक पसंद करता है। इनके गीतों की कोई लिखित परंपरा नहीं मिलती; वे गुरु द्वारा शिष्यों के प्रति गायी गई पंक्तियों के रूप में यत्र-तत्र मिल जाते हैं इन बाउलों में से शीराज साई, लालन शाह, शेख मदन, पागला कन्हाई, फिकिर चांद, गंगाराम आदि के पद अधिक संख्या में मिलते हैं। फिर भी इन पदों का अभी कोई शुद्ध और प्रामाणिक संग्रह प्रकाशित नहीं हो पाया है। राजशाही कालेज के अध्यापक मुहम्मद मंसूर उद्दीन एम० ए० ने कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा ऐसे पदों का एक संग्रह 'हारामणि' नाम से प्रकाशित कराया है जो अभी अधूरा है। बहुत-से ऐसे गीत अन्य संग्रहों में भी एकत्र किये गए मिलते हैं, किंतु उनका बहुत बड़ा अंश अभी तक अप्रकाशित ही रह गया है। उत्तरी बंगाल में इन गीतों को 'बाउल गान' कहते हैं और कहीं-कहीं पर ये 'शब्दगान' कहलाकर भी प्रसिद्ध हैं। उन पर वैष्णव अथवा सूफ़ी से कहीं अधिक बौद्धमत का प्रभाव दीख पड़ता है और वे दोहों से भी मिलते-जुलते जान पड़ते हैं।

(२)

बाउलों के उपर्युक्त उपलब्ध गीतों वा बाउल गानों को पढ़ने पर पता चलता है कि उनमें एक निश्चित विचारधारा प्रवाहित हो रही है और उसका रंग-ढंग भी एक निराले प्रकार का है। इनके मत की सबसे बड़ी विशेषता इस बात में पायी जाती है कि ये मानव शरीर को एक पवित्र मंदिर का महत्त्व देते हैं और उसमें 'मनेर मानुष' अथवा हृदय स्थित मानव को अधिष्ठित मानते हैं। मानव शरीर को मंदिर का महत्त्व देना तक तो कोई नवीन बात नहीं है, क्योंकि बौद्ध सिद्धों से लेकर वैष्णव सहजिया तथा उत्तरी भारत के 'निर्गुणिया' संतों तक ने इस प्रकार का कथन बार-बार किया है। उदाहरण के लिए सिद्ध सरहपा का कहना है "देह के समान मुझे अन्य कोई भी तीर्थ नहीं दीख पड़ा। इसमें गंगा है, यमुना है, गंगासागर है, प्रयाग है, वाराणसी है, चंद्र और सूर्य है तथा अनेक क्षेत्र, पीठ और उपपीठ भी अवस्थित हैं।"[1] और चंडीदास एवं कबीर साहब भी प्रायः इन्हीं शब्दों को दुहराते हैं। परंतु बाउलों की वास्तविक विशेषता उनके 'मनेर मानुष' की धारणा में है। यह 'मानुष' अथवा ईश्वरीय मानव उनके अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति के अंतस्तल में प्रतिष्ठित है, किंतु उसे उसकी स्पष्ट अनुभूति नहीं हो पाती। यह उसके सर्वोत्कृष्ट आदर्श का प्रतीक है, अनुपम सौंदर्य की राशि है और उसके प्रेम का सहज एवं सर्वप्रमुख आधार है। यह, उनके अनुसार, वह 'ब्रह्म कमल' है जो तत्त्वतः पूर्ण है किंतु जो फिर भी सदा अपने दलों को विकसित और प्रफुल्लित करता रहता है। बाउल साधक उसे अपने प्रत्यक्ष अनुभव में लाना चाहता है और यही उसकी सारी साधनाओं का प्रधान उद्देश्य है। उसके विषय में आतुर होकर बाउल गाता है —

कोथाय पाब तारे
आमार मनेर मानुष ये रे !

[1] 'दोहाकोष' (डा० बागची संपादित), पृष्ठ २९

हाराये सेई मानुषे तार उद्देशे
देश विदेश बेड़ाई घूरे ।[1]

बाउलों का यह 'मनेर मानुष', इस प्रकार, वह तत्त्व हो सकता है जिसे उपनिषदों ने 'अन्तरतर यदयमात्मा' द्वारा व्यक्त किया है।

बाउलों ने उपर्युक्त उद्देश्य की सिद्धि के लिए गुरु की आवश्यकता का भी अनुभव किया है। किंतु उनके गुरु का स्वरूप विलक्षण है। इस गुरु को एक बाउल अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में और अपनी चारों ओर पाता है जिस कारण उसके गुरुओं की कोई संख्या नहीं है। उसका तो यहाँ तक कहना है "मेरे लिए अपना प्रत्येक स्वागत गुरु है और वह प्रत्येक वेदना भी गुरु तुल्य है जिसका मुझे अनुभव करना पड़ता है—तुम्हारी हृत्तंत्री के तारों का प्रत्येक खिचाव जो तुम्हारे अश्रुपात का कारण बनता है तुम्हारे गुरु से किसी प्रकार भी कम नहीं।" "संपूर्ण ज्ञान का स्रोत गुरु तुम्हारे अपने घर में ही विद्यमान है। संसार के उपदेशों की ओर ध्यान देकर तुमने महा अनर्थ कर दिया है।" इस प्रकार शरीरधारी गुरु की उन्हें कुछ भी आवश्यकता नहीं है; वे तो स्वानुभव को ही उसका स्थान देना अधिक उचित समझते हैं। गुरु को वे इसीलिए कभी-कभी शून्य तक की पदवी दे देते हैं जिसका अभिप्राय कदाचित् यह है कि जिस प्रकार स्फुरणशील नवीन अंकुर के लिए ऊपर का विस्तृत आकाश पृथ्वी से भी अधिक लाभदायक सिद्ध होता है उसी प्रकार उनके शून्यवत् गुरु का भी महत्त्व है। यह शून्य की भावना कदाचित् उस प्रभाव का परिणाम है जो बाउलों पर बौद्ध धर्म की देन के रूप में पड़ा था। इस शून्यवाद के ही समान बाउलों के ऊपर बौद्धों के सहजवाद का भी प्रभाव लक्षित होता है जो उनकी जीवन-संबंधी प्रवृत्ति के रूप में पाया जाता है। उनके अनुसार अपने चित्त के ऊपर सुख वा दुःख किसी का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। चित्त का किसी भी दशा में चंचल न होना अपितु सदा अपरिवर्त्तित एवं शुद्ध और निर्मल रहा करना उनकी सहज दशा के लिए सबसे बड़ा प्रमाण है। इसके सिवाय सहजावस्था के

[1]. **'हारामणि (आशीर्वाद) पृष्ठ १ पर उद्धृत**

लिए यह भी आवश्यक है कि उसका दृढ़ आधार अपनी निजी आध्यात्मिक अनुभूति हो। किसी शास्त्रीय विधि निषेध से उसका कोई संबंध न हो।

बाउलों ने मानव शरीर को ब्रह्मांड का एक क्षुद्र संस्करण माना है इस कारण इसीके भीतर उन्होंने सारी सृष्टि की भी कल्पना कर डाली है। उनका यह विचार प्रधानतः प्रचलित तांत्रिक सिद्धांतों के अनुकूल है। मानव शरीर में वे इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना नाड़ियों का अस्तित्व मानते हैं और मेरुदंड में नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञा नामक षट् चक्रों की कल्पना कर उनमें, लगभग तांत्रिक पद्धति के ही अनुसार, भिन्न-भिन्न शक्तियों का अस्तित्व भी मानते हैं। उनकी यह धारणा तथा मानव शरीर को अधिक महत्त्व देने और उसे शुद्ध एवं संयत रखने की प्रवृत्ति नाथ पंथी योगियों के भी समान है। बाउलों के गीतों में मानव शरीर विषयक विविध प्रसंग आते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि वे कायासाधन के भी समर्थक हैं। जिन लोगों ने 'बाउल' शब्द की व्युत्पत्ति, 'वायु' शब्द के साथ उसका संबंध स्थापित कर, ठहराने का प्रयत्न किया है उनका यही अनुमान है कि बाउलों की प्रमुख साधना योगपरक है और वे बहुत कुछ नाथपंथियों के ही अनुयायी हैं। किंतु यह धारणा भ्रमात्मक प्रतीत होती है, क्योंकि बाउलों ने उपर्युक्त बातों की चर्चा केवल प्रसंगवश ही की है। उन्हें प्रधानता नहीं दी है। ये लोग नाथपंथियों वा योगियों के कदाचित् उतने भी ऋणी नहीं हैं जितने सूफ़ी, सहजिया अथवा संत आदि समझे जाते हैं और न वे अपनी साधना में काया-साधना आदि के प्रति कोई विशेष आग्रह प्रदर्शित करते हुए ही दीख पड़ते हैं। इस प्रकार की बातें वस्तुतः उन सभी प्रचलित संप्रदायों के मत में स्थान पा चुकी हैं जो हिंदू, मुस्लिम वा बौद्ध धर्म के मूल स्रोतों से निकले हैं अथवा जो इन तीनों के प्रति अपनी उदासीनता प्रकट करने की चेष्टा भी किया करते हैं। बाउल उनमें से दूसरे वर्ग के हैं।

(३)

बाउलों की अपनी साधना प्रेमसाधना है जिसका अभ्यास वे एक निराले ढंग से करना चाहते हैं। वे उस पद्धति को अन्य प्रचलित साधना-प्रणालियों से

नितांत भिन्न बतलाते हैं और उसे कभी-कभी 'विपरीत' तक कह देते हैं। उनका कहना है —

भावेर भावुक प्रेमेर प्रेमिक हय रे ये जन
ओ तारे विपरीत रीति पद्धति; के जाने कखन सेथा के क्या मान
× × ×
से ज्वाला ये प्रेमेर बाती, बोसे थाके दिवा राती,
भाव सागरे आकुल पाथारे डूबाइया मन,
ओ तार हस्तगत सुखेर चाबी, तबू करेना सुख अन्वेषण!
× × ×
तार चंदने हय या मन प्रीति पंक दिलेओ हम तेमनि तृप्ति,
चायेना से सुखयाति, तार तुल्य पर आपन;
से असमाने बानाय घर-बाड़ी, दग्ध होलेओ ए चौद्दा भुवन[१] ॥

अर्थात् जो व्यक्ति सच्चे भावों का भावुक एवं वास्तविक प्रेम का प्रेमी होगा उसकी रहन-सहन सर्वथा भिन्न होगी और किसी भी दूसरे को उसके आचरण एवं व्यवहार का रहस्य ठीक-ठीक, विदित नहीं हो सकेगा। वह प्रेम की ज्योति जगाकर उसके निकट रात-दिन बैठा रहा करता है और उसका मन सदा भावों के गंभीरतम सागर में निमग्न रहता है। उसके हाथों में सुखोपलब्धि की कुंजी रहा करती है, किंतु वह उसके फेर में कभी नहीं पड़ा करता। उसे जिस प्रकार का आनंद चदन के लेप में मिलता है वैसा ही पंक में लिप्त होने पर भी मिल सकता है। वह किसी प्रकार के यश की अभिलाषा नहीं करता और न अपने और पराये में कभी भेद का अनुभव किया करता है। चाहे चौदहों भुवन जल-कर भस्म हो जाँय, वह अपना महल सदा आकाश में बनाता ही रहेगा। बाउलों की यह उल्टी रीति अन्यत्र दुर्लभ है।

प्रेम-साधना का एक रूप वैष्णव सहजिया लोगों में भी पाया जाता है।

---

[१] **'आब्स्क्योर रेलिजस सेक्ट्स' (डा० दासगुप्त) के पृष्ठ १९६ पर 'बाउल संगीत' से उद्धृत**

वैष्णव सहजिया के मतानुसार आदर्श प्रेम केवल राधा एवं कृष्ण के अलौकिक प्रेम में ही व्यक्त होता है और उसीके आधार पर वह अपने इष्ट के प्रति भी प्रेम-साधना किया करता है प्रत्येक व्यक्ति को हम दो दृष्टियों से देख सकते हैं जिनमें से एक उसका भौतिक 'रूप' है और दूसरा उसका आध्यात्मिक 'स्वरूप' है जिसे हम राधा अथवा 'कृष्ण' कह सकते हैं और जिसकी उपलब्धि 'रूप' के द्वारा ही हो सकती है। परन्तु इस प्रकार की साधना के कारण 'रूप' सर्वथा 'स्वरूप' में परिवर्तित नहीं हो जाता, केवल प्रेम का लौकिक रूप अलौकिकता के स्तर तक पहुँच जाता है। वैष्णवों के सहजिया सप्रदाय में जीव एवं ब्रह्म की द्वैत भावना का लोप नहीं हो जाता यद्यपि दोनों के संबंध को 'अचिन्त्य' कह दिया जाता है। परन्तु बाउलों की प्रेम-साधना में इस प्रकार के आरोपवाद को कोई आवश्यकता नहीं है। वे उस ब्रह्म वा सहज के प्रति सीधे प्रेम करने की चेष्टा करते हैं और उसे अपने हृदय में वर्तमान कहकर उसे 'मनेर मानुष' द्वारा अभिहित भी करते हैं। इस प्रकार बाउलों की प्रेम-साधना आत्म-साधना का ही एक अन्य रूप है जहाँ वैष्णव सहजिया की प्रेम-साधना को हम एक प्रकार की प्रेम लक्षणा भक्ति से भिन्न नहीं कह सकते और न उससे कभी पौराणिकता के भावों से पूर्णतः पृथक् ही कर सकते हैं।

बाउलों की प्रेमास्पद विषयक धारणा से जान पड़ता है कि वे सर्वात्मवाद के समर्थक हैं। अतएव उनकी प्रेम-साधना की तुलना उन सूफ़ियों की प्रेम-पद्धति से भी की जा सकती है जो प्रेम को 'परमात्मा के सारतत्व का भी सारतत्त्व' मानते हैं। सूफ़ियों की धारणा के अनुसार परमात्मा ने सृष्टि के पूर्व स्वयं अपने आप से ही एकांतिक प्रेम का अनुभव किया था। फिर उसीको वाह्य वस्तुओं में भी देखने की इच्छा से, उसने शून्य से अपने आपका एक प्रतिरूप उत्पन्न किया तथा उसे नामरूप द्वारा समन्वित भी कर दिया। इस प्रकार प्रेम के ही मूल स्रोत से सारी सृष्टि का क्रमशः आविर्भाव हुआ और उसीके आधार पर वह आज भी स्थित है। इसके सिवाय स्वयं परमात्मा का ही प्रतिरूप होने के कारण, मनुष्य में उसके सारे गुण प्रतिबिंबित समझे जा सकते हैं और एक ओर जहाँ उसमें कोरे भौतिक व्यक्तित्व का अस्तित्व माना जा सकता है वहाँ दूसरी

और वह ईश्वरीय विभूतियों से सम्पन्न भी समझा जा सकता है। सूफ़ियों ने वस्तुतः इन दोनों प्रकार के मानवीय अंशों के कल्पित पृथकत्व को ही प्रेमी एवं प्रेमपात्र के वियोग का नाम दिया है। मनुष्य के भौतिक व्यक्तित्व (नासूत) का उसके आध्यात्मिक व्यक्तित्व (लाहूत) की दशा में आ जाना उक्त प्रेमी एवं प्रेमास्पद के मिलन का द्योतक है जो बाउलों के शब्दों में किसी प्रेमी साधक द्वारा अपने 'मनेर मानुष' की उपलब्धि के रूप में भी कहा जा सकता है।

बाउलों की प्रेम-साधना का सादृश्य उत्तरी भारत के संतों की सहज-साधना में भी पाया जा सकता है। ये संत अद्वैतवाद के समर्थक हैं और इनके लिए जीवात्मा एवं परमात्मा में तत्त्वतः कोई भी अंतर नहीं। परमात्मतत्त्व एक सागर के समान है जिसमें जीवात्मा का स्थान उसकी एक बूँद-सा है और दोनों को पृथक् समझना केवल भ्रम के कारण ही हो सकता है। इसलिए जिस समय जीवात्मा को स्वानुभूति की दशा का आनंद मिल जाता है वह परमात्मतत्त्व की सहज दशा में आ जाता है और जीवन्मुक्त बन जाता है। संतों की प्रेम-साधना का रहस्य, इसी कारण, उक्त अद्वैत भाव में भी द्वैत की कल्पना का प्रेमानुभूति का भाव जागृत करने में निहित है। वे अपने निर्गुण एवं निराकार प्रियतम का साक्षात् स्वभावतः नहीं कर सकते किंतु भावयोग द्वारा उसके अपरोक्ष अनुभव का आनंद अवश्य ले सकते हैं। अतएव, वे कभी-कभी उसके विरह की वेदना से पीड़ित होते हैं और कभी उसके प्रत्यक्ष अनुभव के रंग में मग्न हो जाते हैं। उन्हें वैष्णव सहजिया लोगों की भाँति राधा एवं कृष्ण के आदर्श प्रेम जैसे किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं और न वे बाउलों के 'मनेर मानुष' जैसे किसी आदर्श मानवतत्त्व की उपलब्धि के लिए ही प्रयत्नशील रहते हैं। वे अपने प्रियतम को एक अनिर्वचनीय रूप देना चाहते हैं और उसके मिलन को स्वानुभूति के रूप में उपलब्ध कर अपने जीवन में कायापलट ला देना चाहते हैं। इस कारण बाउलों की प्रेम-साधना जहाँ साध्य का रूप ग्रहण कर लेती है वहाँ संतों के लिए वह केवल एक प्रमुख साधन का काम करती है।

बाउलों की साधना की तुलना अंशतः बौद्ध सहजिया सिद्धों की सहज-साधना के साथ भी की जाती है। सिद्धों की साधना का प्रमुख आधार प्रचलित

तांत्रिक पद्धति में निहित रहा और उसका अंतिम उद्देश्य चित्त को नितांत शुद्ध एवं निर्विषय करना मात्र था। सिद्ध लोग ऐसी स्थिति को ही 'निर्वाण' अथवा 'महासुख' को संज्ञा देते थे और उसे प्राप्त कर लेने को सहज दशा में आ जाना मानते थे। उनके यहाँ इस प्रकार के प्रेम का वैसा महत्त्व नहीं था जो बाउलों के लिए सर्वस्व से कम नहीं है। सूफ़ी लोग जहाँ इश्क मजाजी में भी इश्क हक़ीकी का तत्त्व ढूँढ़ा करते थे और और वैष्णव सहजिया परकीया के अनियंत्रित प्रेम को अपने राधा एवं कृष्ण के अलौकिक प्रेम का प्रतीक समझा करते थे वहाँ सिद्धों की महामुद्रा साधना वस्तुतः एक मानसिक स्थिति विशेष के लिए ही की जाती थी। 'मनेर मानुष' के अन्वेषक बाउलों के लिए उक्त दोनों में से किसी भी प्रयोजन का सिद्ध करना आवश्यक नहीं था। बाउलों की 'समरस' विषयक भावना को हम बौद्ध सिद्धों वाली उस प्रकार की धारणा के बहुत कुछ समान कह सकते हैं, क्योंकि सिद्ध लोग जहाँ पर शून्यता एवं करुणा अथवा प्रज्ञा एवं उपाय के 'युगनद्ध' होने की दशा को 'समरस' की संज्ञा देते हैं वहाँ बाउल उसे तर्क एवं भाव की दो भिन्न-भिन्न धाराओं का संगम समझा करते हैं जो विचार करने पर प्रायः एक ही प्रकार के सिद्धांत के दो रूप माने जा सकते हैं। बाउल साधक इस 'समरस' को कभी-कभी 'एकरस' का भी नाम देते हैं और इसे 'प्रेम' का एक दूसरा पर्याय भी समझते हैं।

(४)

बाउलों का प्रियतम परमात्म स्वरूप परमतत्त्व नहीं, अपितु 'मनेर मानुष' के रूप में मनुष्य के हृदय में अंतर्निहित, आदर्श मानव ही है। फिर भी वे उसका वर्णन इस प्रकार करते हैं जिससे उसमें सगुणोपासक भक्तों के इष्टदेव 'भगवान्' का भ्रम हो जाता है। बाउल कवि कहता है—

तोमार पथ ढायकाचे मंदिरे मसजिदे
(तोमार) डाक शुने आमी चलते ना पाइ
रुइखा डंडाय गुरुते मुरशेदे।[1] **इत्यादि।**

---

[1] **'आब्स्क्योर रेलिजस कल्ट्स' (डा० दासगुप्त,) पृष्ठ १९७ की पाद टिप्पणी में उद्धृत**

अर्थात् तेरे मार्ग को मंदिरों और मसजिदों ने रोक रखा है। हे स्वामिन्, मैं तेरी पुकार सुन लेता हूँ, किंतु गुरु और मुर्शिद बीच में आकर खड़े हो जाते हैं और मैं तेरी ओर एक पग भी बढ़ने नहीं पाता। डा० रवीन्द्रनाथ टाकुर ने उस 'आदर्श मानव' की बड़ी विशद व्याख्या की है और अपनी रचना 'दि रेलिजन आफ़ मैन'[1] (मानव-धर्म) के अंतर्गत परमात्मा में मानवता की भावना अथवा शाश्वत मानव में देवत्व की भावना का यथेष्ट विवेचन भी किया है। उनका कहना है कि व्यक्तिगत मानव एवं शाश्वत मानव की दो भिन्न-भिन्न अन्वितियां मानी जा सकती है जिनमें से दूसरे में पूर्णता भावनात्मक रूप में सदा निहित रहती है और वही पहले को अपने प्रति प्रेमभाव प्रदर्शित करने तथा तद्रूप होने के लिए निरंतर प्रेरित भी करती रहती है। मानव जाति के वास्तविक धर्म का यही रहस्य है जो बाउलों की प्रेम-साधना में बड़े अच्छे ढंग से व्यक्त किया गया मिलता है।

कोई बाउल साधक इस प्रकार कहता है—"मुझे जान पड़ता है कि मैं पागल हो गया हूँ, नहीं तो मेरे भीतर कभी-कभी एक विचित्र ढंग की हलचल क्यों उत्पन्न हो जाया करती है? जब कभी मैं शांत चित्त हो जाता हूँ मुझे प्रतीत होता है कि कोई मुझे मेरे भीतर से पुकार रहा है और कह रहा है 'मैं यहाँ हूँ, यहाँ पर मैं वर्तमान हूँ'। मुझे यह भी जान पड़ता है कि, मेरे हृदयाकाश में, कोई व्यक्ति मेरे निकट आ जाता है, वह चलता है, बोलता है, खेलता है, मुस्कराता है और सैकड़ों प्रकार के खेल रचा करता है......यदि मैं उसे छोड़कर पृथक् हो जाना और अकेला बना रहना चाहता हूँ तो प्रतीत होता है कि यह मेरे लिए असंभव सी बात है—उसने मेरे हृदय प्रदेश में अपना घर-सा बना लिया है"[2] बाउल कवि उसे कभी-कभी 'अचिन पाखी' अर्थात् अपरिचित पक्षी भी कह देता है और बतलाता है 'वह अपनी नित्यक्रीड़ा अथवा आने-जाने के आत्मप्रदर्शन एवं आत्मगोपन द्वारा निरंतर केलि करता रहता है।' कांगाल हरिनाथ ने उन्मत्त भाव में होकर कहा है—

---

[1] **'दि रेलिजन आफ़ मैन', पृष्ठ १६-७**

[2] **'आब्स्क्योर रेलिजस कल्ट्स' (डा० दासगुप्त) पृष्ठ० २०७-८**

आमाय दिये फांकि, रूपेर पाखी, कोथाय लुकालो !
आमी घुरे ब्याड़ाइ द्याखा ना पाइ, उड़िया ये पालालो ।[1]

अर्थात् हे सौंदर्य के पक्षी, तुम मुझे चकमा देकर कहाँ छिप गए, मैं भटकता फिरता हूँ किंतु कहीं तुम्हें देख नहीं पाता उड़कर कहीं भग गए ? बाउल उस पक्षी को पकड़कर उसे अपने हृदय के पिंजर में बन्द कर देना चाहता है और जब तक उसे वह हस्तगत नहीं कर पाता एक पागल की भाँति भ्रमण करता फिरता है।

उपर्युक्त 'अचिन पाखी' 'वा 'रूपेर पाखी' को आत्मसात् कर पाना और स्वानुभूति का उपलब्ध करना दोनों एक ही बात है। इसके द्वारा व्यक्तिगत मानव एवं शाश्वत मानव के बीच का व्यवधान सर्वथा लुप्त हो जाता है और मानव देवत्व की दशा में आ जाता है जिसका एक सबसे बड़ा परिणाम यह होता है कि 'स्व' एवं 'पर' में कोई अंतर नहीं रह जाता है और सारा विश्व आत्म-स्वरूप जँचने लगता है इसलिए एक बाउल ने कहा है—

बिचार करिया देखी सकलेइ आमी ।

× × ×

आमी हइते आल्ला रसूल, आमी हइते कुल ।
आमा हइते आसमां जमीन, आमा हइते भुल ।
मरब मरब देसेर लोक मोर कथा यदि लय ।
आपनि चिनिले देखा खोदा चिना याय ।[2]

अर्थात् विचारपूर्वक देखने पर केवल 'स्व' की अनुभूति सर्वत्र होती जान पड़ती है। मुझसे ही अल्लाह (परमात्मा) एवं रसूल (पैगंबर मुहम्मद) का अस्तित्व है और मै ही सब कहीं और सब कुछ हूँ—मुझसे ही आकाश एवं पृथ्वी आदि तक हैं। मेरी स्थिति के ऊपर विचार करने पर लोग विस्मित हो सकते हैं, किंतु

---

[1] **'आब्स्क्योर रेलिजस कल्ट्स' (डा० दासगुप्त) पृष्ठ २०६**

[2] **वही, पृष्ठ २१२**

यह सत्य है कि अपने आपकी पहचान हो जाने पर खुदा की भी पहचान हो जाती है। विश्व की अनुभूति स्वानुभूति के ही रंग में रँग जाती है।

जगा नाम के बाउल ने इसीलिए कहा है—"तुम्हारे ही भीतर अगाध समुद्र है जिसके रहस्य से तुम परिचित नहीं हो सके हो। उसका कोई शास्त्रीय ग्रंथों अथवा विधि-निषेधों द्वारा निर्मित किनारा नहीं है। उसके तलहीन एवं कूल-हीन विस्तृत क्षेत्र पर सांप्रदायिक नियमों के सहारे तुम्हें मार्ग नहीं मिल सकता। फिर भी तुम्हे उसे पार करना है नहीं तो तुम्हारा मानव जीवन व्यर्थ हो जायगा। यदि तुम अपने द्वार को खोलकर विश्व के साथ अपना संबंध जान लो और सद्‌गुरु की कृपा से तुम्हारे सामने की बाधाएं छिन्न-भिन्न हो जॉय तो तुम्हारे अंतिम उद्देश्य की पूर्ति में विलंब न हो, और जगा का यही कहना है।" अपने 'मनेर मानुष' को सब कुछ समझ लेने के ही कारण बाउलों को किसी स्वर्ग अथवा मोक्ष तक की इच्छा नहीं होती और वे जगा के शिष्य गंगाराम के शब्दों में कहते हैं—

तुमिई सागर आमिई तरी तुमि खेओयार माझि।
कूल ना दिया डुबाओ यदि तातेइ आमि राजि।
(ओगो) तोमा हइते कूल कि बड़ भरम कि आमार ?

अर्थात् यदि तुम समुद्र हो तो मैं उसपर एक नौका मात्र हूँ जिसके खेने वाले भी तुम्हीं हो। यदि तुम मुझे पार लगाना नहीं चाहते तो डूब ही जाने दो, मुझे इसमें कोई आपत्ति न होगी। मैं ऐसी मूर्खता क्यों करूँगा अथवा भयभीत क्यों हूँगा ? क्या पार लग जाना तुममें अपने को खो देने की अपेक्षा कुछ अधिक महत्त्व रखता है ? निःसंदेह बाउलों के ऐसे मर्मस्पर्शी गान आध्यात्मिक उद्‌गारों के सर्वोत्कृष्ट उदाहरणों में स्थान पा सकते हैं !

मीराँबाई की प्रेम-साधना

(१)

मीराँबाई के भजन गुजरात से लेकर बिहार तथा मध्य प्रदेश से पंजाब पर्यंत प्रायः सब कहीं बड़े प्रेम के साथ गाए जाते हैं और जिस प्रकार मैथिल-कोकिल विद्यापति को उनके पदों के कारण हिंदी तथा बंगला भाषा-भाषी दोनों एक समान ही सम्मानित किया करते हैं उसी प्रकार मीराँबाई की भी गणना हिंदी तथा गुजराती के श्रेष्ठ भक्त कवियों में की जाती है। परंतु सब कुछ होते हुए भी, अनेक अन्य प्रसिद्ध कवियों की भाँति, मीराँबाई का भी समय निश्चित करने में बहुत कुछ मतभेद है। यहाँ तक कि एक दल यदि उनका जन्म-समय सन् १४०३ ई० में ठहराता है तो दूसरा उसी घटना को सन् १५१६ ई० तक ले जाता है। स्वयं मीराँ ने अपने सांसारिक जीवन के विषय में कुछ नहीं कहा है। हाँ, उनकी रचना समझे जाने वाले 'नरसीजी का मायरा' नामक ग्रंथ में केवल इतना प्रसंग आया है—

छत्री वंस जनम मम जानो।
नगर मेड़तै वासी॥
नरसी को जस बरन सुणाऊँ।
नाना विधि इतिहासी॥१॥

और,

को मंडल को देस बखानूं।
संतन के जस वारी॥
को नरसी सो भयो कौन विध।
कहो महिराज कुंवारी॥२॥
ह्वै प्रसन्न मीराँ तब भाख्यो।
सुन सखि मिथुला नामा॥

नरसी की विध गाय सुनाऊँ।
सारे सब ही कामा ॥३॥

इससे केवल इतना ही विदित होता है कि मीराँबाई मेड़ता नगर निवासी किसी क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुई थीं तथा 'महिराज कुँवारी' पद से यह भी अनुमान हो सकता है कि उपर्युक्त क्षत्रिय कुल कोई राजकुल अवश्य रहा होगा। किंतु न तो इससे मीराँ के समय का पता चलता है और न यही ज्ञात हो पाता है कि उनके पूर्वज वा वंश वाले कौन थे अथवा उनका वैवाहिक संबंध कहाँ और किसके साथ हुआ था!

राजस्थान के इतिहासज्ञ कर्नल टाड ने जनश्रुतियों के आधार पर और विशेषकर राणा कुंभकर्ण के शिवालय के पास 'मीराँबाई का मंदिर' देखकर तथा, साथ ही कदाचित् राणाकुंभ की साहित्यिक योग्यता और मीराँ की काव्य-शक्ति में कुछ साम्य की कल्पना करके लिखा है—

"अपने पिता की गद्दी पर १४६१ ई० में बैठने वाले राणाकुंभ ने मारवाड़ के मेड़ता वंश की कन्या मीराँबाई से विवाह किया था जो अपने समय में सुंदरता तथा सच्चरित्रता के लिए बहुत प्रसिद्ध थीं और जिनके रचे हुए अनेक प्रशंसनीय गीत अभी तक सुरक्षित हैं। हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि मीराँ को यह काव्य-कौशल अपने पति से प्राप्त हुआ था।"[1]

कर्नल टाड की इस सम्मति के प्रभाव में आकर बहुत से लेखकों और विशेषकर गुजराती साहित्य के इतिहासज्ञों ने मीराँबाई का समय ईसा की १५वीं शताब्दी में निर्धारित किया है। प्रसिद्ध गुजराती विद्वान् स्वर्गीय गोवर्द्धनराय माधवराय त्रिपाठी ने इस मत का समर्थन किया है[2] और कृष्णलाल मोहनलाल झावेरी ने इस विषय पर विचार करते हुए मीराँबाई के जन्म तथा मरण का भी समय निश्चित कर लिया है। झावेरी महोदय के मत से, मीराँबाई जीवन-काल

---

[1] कर्नल टाड लिखित 'ऐनल्स अव् राजस्थान'

[2] जी० एम्० त्रिपाठी लिखित 'क्लासिकल पोएट्स अव् गुजरात' पृष्ठ १६

के विषय में मतभेद होते हुए भी सन् १४०३ ई० के आसपास का समय (उसके जन्म के लिए साधारणतया) निश्चित है और मीराँ का ६७ वर्षों तक जीवित रहना तथा सन् १४७० ई० में मर जाना बतलाया है।[1] इसी प्रकार हिंदी-साहित्य के सर्व प्रथम इतिहासकार स्वर्गीय ठाकुर शिवसिंह ने भी अपने 'सरोज' में मीराँबाई का हाल 'चित्तौर के प्राचीन प्रबंध' को देखकर लिखा है और वे भी कहते हैं—"मीराँबाई का विवाह संवत् १४७० (अर्थात् सन् १४१३ ई०) के क़रीब राना मोकलदेव के पुत्र राना कुंभकर्णसी चित्तौर नरेश के साथ हुआ था।"[2]

अतएव उपर्युक्त मतानुसार मीराँबाई के आविर्भाव का काल ईसा की १५वीं शताब्दी से आगे बढ़ता हुआ नहीं दीखता। परंतु जैसा ऊपर कहा गया है, कर्नल टाड की सम्मति अधिकतर अनुमान अथवा जनश्रुतियों पर ही अवलंबित है। राणा कुंभ की विद्वत्ता के कारण उनकी स्त्री का भी विदुषी होना आवश्यक नहीं और न 'मीराँबाई का मंदिर' नाम पड़ने के कारण, कोई मंदिर (जिसे पीछे मीराँबाई के नित्यशः उसमें कीर्त्तन आदि करने के कारण भी ऐसा नाम दिया जा सकता है) मीराँबाई ही द्वारा निर्मित किया हुआ कहा जायगा। वास्तव में यह "महाराणा कुंभा का निर्माण कराया हुआ विष्णु के वाराह अवतार का कुंभस्वामी (कुंभश्याम) नामक भव्य मंदिर है जिसको भ्रम से 'मीराँबाई का मंदिर' कहते हैं"।[3] फिर 'नरसी जी का प्रसिद्ध मायरा' मीराँबाई की ही रचना कहा जाता है और झावेरी महाशय के मतानुसार नरसी मेहता का समय सन् १४१५ ई० से सन् १४८१ ई० तक निश्चित है, ऐसी दशा में 'मायरे' के अंतर्गत मीराँ का अपने समय के प्रमुख भक्त नरसी मेहता के विषय में—

---

[1] के० एम् झावेरी लिखित 'माइल्स्टोन्स इन गुजराती लिट्रेचर' पृष्ठ ३०

[2] ठाकुर शिवसिंह सेंगर कृत "शिवसिंह सरोज" (सन् १९२६ ई० का संस्करण) पृष्ठ ४७५

[3] रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा कृत "राजपूताने का इतिहास" (पहला खंड) पृष्ठ ३५५

'को नरसी सो भयो कोन विध । कहो महिराज कुँवारी' ॥

के समान प्रश्नों का उठाना अस्वाभाविक-सा जान पड़ता है। इसके सिवाय "मीराँबाई मेड़तणी कहलाती हैं, जिसका अभिप्राय यह है कि वे मेड़ता के राजकुल की कन्या थीं। मेड़ता का अधिकार जोधपुर के राव जोधाजी के चतुर्थ पुत्र दूदाजी ने मुसलमानों को परास्त कर वि० सं० १५१८ (सन् १४६१ ई०) में प्राप्त किया। राव दूदाजी के ज्येष्ठ पुत्र वीरमदेवजी का जन्म वि० सं० १५३४ (सन् १४७७ ई०) में हुआ। मीराँबाई वीरमदेवजी के कनिष्ठ भ्राता रत्नसिंह की पुत्री थीं। कहाराणा कुंभाजी का वि० सं० १५२५ (सन् १४६८ ई०) में देहांत हो गया था। महाराणा कुंभाजो के देहांत के नौ बरस बाद मीराँबाई के पिता के बड़े भाई वीरमदेवजी का जन्म हुआ। अतः मीराँबाई का महाराणा कुंभाजी की राणी होना सर्वथा असंभव है"।[१]

जोधपुर के स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ़ ने १५वीं शताब्दी वाले मत की विद्वत्तापूर्ण आलोचना करके मेवाड़, मारवाड़ और मेड़ते की तवारीख़ों के आधार पर यह निश्चय किया है कि मीराँबाई "मेड़तिया राठौड़ रतनसिंह जी की बेटी मेड़ते के राव दूदाजी की पोती और जोधपुर के बसानेवाले राव जोधाजी की पड़पोती थीं। इनका जन्म गाँव चोकड़ी में हुआ था जो इनके पिता की जागीर में था। ये संवत् १५७३ (सन् १५१६ ई०) में मेवाड़ के मशहूर महाराणा साँगाजी के कुँवर भोजराज को ब्याही गई थीं[२]"। मुंशीजी के इस निश्चय को मान लेने में इधर के किसी लेखक ने आपत्ति नहीं की है; केवल मिश्रबंधुओं ने, न जाने किस प्रमाण का आश्रय लेकर, संवत् १५७३ को मीराँबाई का जन्म-समय बतलाया है[3]। मुंशी देवीप्रसाद ने मीराँबाई का मृत्यु-समय संवत् १६०६

---

[१]ठाकुर गोपालसिंह राठौर मेड़तिया का "मीराँबाई" नामक लेख, "सुधा" वर्ष १ (खंड २) पृष्ठ १७२

[२]मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ़ द्वारा संपादित, "महिला मृदु-वाणी", पृष्ठ ४६

[3] मिश्रबंधु रचित 'मिश्रबंधु विनोद', प्रथम भाग, (सं० १९८३), पृष्ठ २६२

(सन् १५४६ ई०) माना है, किन्तु 'बेलवेडियर प्रेस' द्वारा प्रकाशित 'मीराँबाई की शब्दावली' के संपादक ने इस मन्तव्य को 'एक भाट की ज़ुबानी' स्थिर किया हुआ कहकर 'भक्तमाल' में दिये हुए मीराँबाई के साथ अकबर बादशाह एवं तानसेन की भेंट तथा गोस्वामी तुलसीदास के पत्र व्यवहार से संबंध रखने वाले प्रसंगों के कारण लिखा है "हमको भारतेंदु श्री हरिश्चन्द्र जी स्वर्गवासी का अनुमान कि मीराँबाई ने संवत् १६२० और १६३० विक्रमी (अर्थात् सन् १५६३ और १५७३ ई०) के दर्म्यान शरीर त्याग किया ठीक जान पड़ना है जैसा कि उन्होंने उदयपुर दर्बार की सम्मति से निर्णय किया था और 'कविवचन सुधा' की एक प्रति में छापा था।[१]" मुंशी देवीप्रसाद ने मीराँबाई के जन्म का कोई समय निर्धारित नहीं किया था अतएव उपर्युक्त संपादक महाशय ने इस काल को भी संवत् १५५५ एवं १५६० (अर्थात् सन् १४९८ एवं १५०३ ई०) के बीच माना है। परन्तु संपादक महाशय द्वारा माने हुए मृत्यु तथा जन्म-संबंधी उपर्युक्त समयों के विषय में भी आपत्ति का किया जाना संभव है। कहा जाता है कि मीराँबाई ने अपनी सुसराल में अपने भक्ति-भाव के कारण, छोड़े जाने पर ही घबड़ाकर गोस्वामी तुलसीदासजी से पत्र-व्यवहार किया था और मीराँबाई को इस प्रकार के कष्ट, संपादक महाशय के भी अनुसार, उनके देवर महाराणा विक्रमाजीत ने दिये थे। महाराणा विक्रमाजीत सिंह अपने बड़े भाई महारणा रत्नसिह के मरने पर सन् १५३१ ई० में राजगद्दी पर बैठे। फिर कुछ वर्षों तक राज्य करने के उपरांत ही बनवीर ने उन्हें मारकर राजगद्दी छीन ली और अंत में सन् १५४० ई० में वह महाराना उदयसिंह द्वारा स्वयं परास्त हुआ। महाराणा उदयसिंह के समय में मीराँबाई के किसी प्रकार के कष्ट पाने का पता नहीं चलता। इधर गोस्वामी तुलसीदासजी का जन्म साधारणतः सन् १५३२ ई० में माना जाता है और इस हिसाब से गोस्वामीजी की अवस्था सन् १५४० ई० तक भी केवल आठ वर्ष की ही ठहरती है। इसके सिवाय गोस्वामी तुलसीदास जी को विशेष प्रसिद्धि उनकी मानस-रचना के समय अर्थात् सन् १५७४ ई० के

---

[१] **मीराँबाई की शब्दावली', बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, पृष्ठ १**

उपरांत ही हुई थी और ऐसी दशा में उन दिनों सुदूर चित्तौड़ निवासनी मीराँ-बाई के साथ उनका पत्र-व्यवहार सन् १५७४ ई० के प्रथम का होना कुछ जंचता नहीं। इसी प्रकार सन् १५७३ ई० तक का समय भी ऐसा है जब तक अकबर बादशाह की अवस्था, उसके सन् १५४२ ई० में उत्पन्न होने के कारण, केवल ३१ वर्ष की थी और तब तक कदाचित् उससे और तानसेन से आपस में भेंट तक भी न हो पाई थी। ऐसी दशा में इन दोनों का एक साथ मीराँ का दर्शन करने के लिए १५७३ ई० के पहले जाना संभव नहीं जान पड़ता। हो सकता है कि मीराँबाई की मृत्यु सन् १५४६ ई० के कुछ अनंतर ही हुई हो किन्तु उसे निश्चय करने के लिए अकबर एवं तानसेन वाली भेंट तथा गोस्वामी तुलसीदास के पत्र-व्यवहार की कथा मात्र के अनुमान पर्य्याप्त नहीं। मीराँबाई का जन्म-काल भी इसी भाँति उनके पिता रत्नसिंह की अवस्था का अनुमान करते हुए सन् १५०० ई० के अनंतर का ही कहा जाना चाहिए। मद्रास के जी० ए० नटेसन कंपनी द्वारा प्रकाशित "वल्लभाचार्य" नामक छोटी सी पुस्तक के लेखक ने मीराँबाई का जन्म-समय सन १५०५ ई०, विवाह समय सन् १५१६ ई० तथा मृत्यु-काल सन् १५५० ई० बतलाया है[1] और यह निश्चय, उपर्युक्त सब बातों पर विचार करते हुए बहुत उचित जान पड़ता है। केवल मृत्यु के सन् का १० वर्ष और भी पीछे लाना कदाचित् अधिक ठीक सिद्ध हो सकता है।

मीराँबाई की जीवन-यात्रा अधिकतर कष्टमय ही रही। कहा जाता है कि इनकी माता इन्हें छोटी-सी वय में ही छोड़कर परलोक सिधारीं और यद्यपि इनके पिता जीवित थे तथापि इनके पितामह राव दूदाजी ने स्नेहवश इन्हें चोकड़ी[2] से बुलाकर अपने पास रखा। मीराँबाई अपने पिता रत्नसिंह की इकलौती संतान थीं। किंतु विविध लड़ाइयों में बहुधा भाग लेते रहने के कारण

---

[1] वल्लभाचार्य—'ए स्केच अव् हिज़ लाइफ़ एंड टीचिंग्ज़' (जी० ए० नटेसन कंपनी, मद्रास) पृष्ठ २-४

[2] चोकड़ी का नाम बहुत लोगों ने कुड़की कहा है जो संभवतः अधिक ठीक है —ले०

उन्हें भलीभाँति मीराँ का पालन-पोषण करने का पूर्ण अवकाश नहीं था। राव दूदाजी का सन् १९१५ ई० में देहांत हो जाने पर, इसी कारण, मीराँबाई की देखभाल उनके ज्येष्ठ पुत्र राव वीरमदेवजी करने लगे। राव वीरमदेवजी अपने पिता के मरने पर मेड़ते की गद्दी पर बैठे थे और उन्हींके प्रयत्नों के फल-स्वरूप मीराँबाई का विवाह सन् १५१६ ई० में चित्तौड़ के महाराणा साँगाजी के ज्येष्ठ पुत्र राजकुमार भोजराजजी के साथ हुआ। राजकुमार भोजराजजी अपने पिता के जीवन-काल में ही परलोक सिधारे और कुछ ही दिनों के उपरांत सन् १५२७ ई० में मीराँबाई के पिता रत्नसिंह तथा उनके ससुर महाराणा साँगाजी की भी मृत्यु हो गई।

इस प्रकार अपनी तेईस वर्ष की अवस्था के भीतर ही, अपनी माता, पितामह, पति, पिता तथा ससुर के स्वर्गवासी हो जाने के कारण, मीराँबाई के हृदय में विरक्ति का भाव क्रमशः जाग्रत होता गया और साथ ही अपने पितामह परम वैष्णव राव दूदाजी के संसर्ग द्वारा आरोपित भक्ति-भाव का बीज धीरे-धीरे अंकुरित, पल्लवित तथा विवर्धित होता हुआ अनुदिन जड़ पकड़ता गया। मीराँबाई अपने इष्टदेव श्री गिरिधर लाल के अर्चन, आराधन एवं भजन में ही पहले अपना समय बिताती रहीं, किंतु समयानुसार पीछे संतों का समागम भी होने लगा। इनके ससुर महाराणा साँगाजी के मरणोपरांत इनके देवर महाराणा रत्नसिंह, विक्रमाजीत सिंह और उदयसिंह एक के पीछे दूसरे अपने पिता की गद्दी पर बैठे और विक्रमाजीत तथा उदयसिंह के बीच कुछ दिनों तक महाराणा रायमलजी के राजकुमार पृथ्वीराजजी का अनौरस पुत्र बनवीर भी राजा बना रहा, किंतु इनकी ड्योढ़ी पर साधु-संतों की बढ़ती हुई भीड़ देखकर महाराणा रत्नसिंह तथा विक्रमाजीत सिंह ही अधिकतर चिढ़ते थे। इन दोनों ने मीराँबाई को, भगवद्भक्ति के आवेश में आकर अपनी कुल-परंपरा के प्रतिकूल, महल छोड़कर मंदिरों में जाने, वहाँ पर भजन गा-गाकर नृत्य करने तथा साधुओं के साथ सत्संग करने एवं उत्सव मनाने से रोकने की अनेक बार चेष्टा की, किंतु सदा वे विफल रहे। महाराणा विक्रमाजीतसिंह ने तो क्रोध में आकर यहाँ तक निश्चय कर लिया था कि हम मीराँबाई को किसी न किसी प्रकार

जान से मार डालेंगे और इसीलिए एक बार उन्होंने अपने दीवान को सलाह से इनके पास ठाकुरजी के चरणामृत के बहाने किसी दयाराम पंडा के द्वारा विष का प्याला तक भेज दिया था, परंतु मीरॉबाई ने उसे हरि का नाम लेकर पी लिया। कहा जाता है कि उन्हें कुछ भी नहीं हुआ। इसी प्रकार उनके यहाँ साँप की पिटारी भेजने तथा उसके खोलने पर भीतर से हार के निकलने की भी कथा प्रचलित है।

मीराँबाई के कष्टों का वृत्तांत सुनकर उनके चचा राव वीरमदेवजी को अत्यंत दुःख हुआ और उन्होंने इन्हें मेड़ते बुलाकर अपने यहाँ रखना चाहा। परंतु कुछ ही दिनों के अनंतर मीरॉबाई का मेड़ते में भी रहना कठिन हो गया। जोधपुर के राव मालदेवजी ने सन् १५३८ ई० में राव वीरमदेवजी से मेड़ता छीन लिया। उधर इसके कुछ ही पहले विक्रमाजीतसिंह को मार कर बनवीर चित्तौड़ की राजगद्दी पर बैठ चुका था। अतएव मैके तथा सुसराल की इन दोनों विपत्तियों ने मीरॉबाई के विरक्ति-भाव को और भी दृढ़ बना दिया और इसके उपरांत उन्होंने अपनी जीवन-यात्रा तीर्थाटन करके व्यतीत करने की ठान ली। मेड़ते से घूमती-फिरती वह मथुरा तथा वृन्दाबन पहुँची और इन दोनो तीर्थ-स्थानों पर कुछ समय बिता चुकने के अनंतर वे अंत में द्वारका धाम चली गईं। द्वारकाजी में इनका विचार अपनी मृत्यु के दिन तक रहने का निश्चित हो गया और वहीं रणछोड़जी के मंदिर में वे नित्यशः भजन-कीर्त्तन करने लगीं। इधर सन् १५४० ई० में महाराणा विक्रमाजीत के छोटे भाई महाराणा उदयसिंह ने बनवीर को परास्त कर अपना राज्य वापस ले लिया। इसी प्रकार इसके तीन ही वर्षों के उपरांत सन् १५४३ ई० में राव वीरम-देवजी ने भी मेड़ते पर अपना अधिकार फिर स्थापित कर लिया। राज्यों के पुनरुद्धार के उपलक्ष में दोनों जगहों के राजाओं ने मीराँबाई को द्वारका धाम से फिर वापस बुला लाने की पूरी चेष्टा की और सन् १५४५ ई० में राव वीरमदेवजी के मरने के उपरांत उनके स्थान पर बैठने वाले उनके ज्येष्ठ पुत्र परम वैष्णव राव जयमल्लजी ने इसके लिए कुछ भी नहीं उठा रखा किंतु मीराँबाई अपने निश्चय पर अटल रहीं और अंत में वहीं शरीर त्याग

कर परमधाम सिधारीं। मीराँबाई की मृत्यु संभवतः सन् १५६० ई० के लगभग हुई थी।

मीराँबाई ने अपने पितामह राव दूदाजी के साथ रहकर अपनी बाल्यावस्था में ही अच्छी शिक्षा पाली थी और बाद में समयानुसार उन्हें काव्य-कला तथा संगीत-कला में अभ्यास करने का भी अवसर मिल गया था। चित्तौड़ का राजवंश संगीतशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् तथा साहित्यज्ञ महाराणा कुंभा के कारण विख्यात हो चुका था। इस कारण अपनी सुसराल में भी उन्हें अपनी योग्यता के विकास के लिए अच्छा वातावरण प्राप्त हो गया। उनके पति कुँवर भोजराज ने अपने जीवन काल में इनके उत्साह में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाई और उनके मरणोपरांत युवावस्था के कठोर वैधव्य सहन करने में उन्हें इन बातों से सहायता मिलने लगी। एक उच्च कुल की योग्य रमणी की भगवद्भक्ति की ख्याति क्रमशः दूर-दूर तक फैलती गई और मीराँबाई के तीर्थाटन तथा द्वारकानिवास के समय तक उनके दर्शनों के लिए बहुत से लोग आने लगे। भारत के प्रसिद्ध प्रसिद्ध भक्तों में मीराँबाई की गणना होने लगी और उनकी मृत्यु के कदाचित् पचास-साठ वर्ष भी न होने पाये होंगे कि उनका नाम भक्त कवि व्यासजी की 'बानी' तथा नाभादासजी के 'भक्तमाल' सदृश ग्रंथो में बड़े गौरव के साथ लिया जाने लगा। इनके प्रेम की महिमा में नाभादासजी ने लिखा है—

सदृरिस गोपिन प्रेम प्रगट कलिजुगहिं दिखायो।
निरअंकुश अति निडर रसिक जस रसना गायो॥
दुष्टन दोष विचारि मृत्यु को उद्यम कीयो।
बार न बाँको भयो गरल अमृत ज्यों पीयो॥
भक्ति निसान बजाय के काहू ते नाहीं लजी।
लोक लाज कुल शृंखला तजि मीरा गिरिधर भजी॥

इसी प्रकार इसके कुछ ही वर्षों के अनंतर इनके विषय में ध्रुवदासजी ने भी अपनी प्रसिद्ध 'भक्तनामावली' में लिखा—

लाज छाँड़ि गिरिधर भजी करी न कछु कुलकानि।
सोई मीरा जग विदित प्रगट भक्ति की खानि॥
ललिता हू लइ बोलि कै तासों हो अति हेत।
आनंद सों निरखत फिरैं वृंदावन रस खेत॥
नृत्यत नूपुर बाँधि कै नाचत लै करतार।
बिमल हियौ भक्तनि मिली तृन सम गन्यो सँसार॥
बंधुनि विष ताकों दियौ करि विचार चित आन।
सो विष फिरि अमृत भयौ तब लागे पछितान॥

इसके उपरांत लिखे जानेवाले ऐसे ग्रंथों में तो इनका नाम कदाचित् ही छूटा हो।

[२]

मीराँबाई द्वारा लिखे गए कई ग्रंथ सुनने में आते हैं किंतु उनमें से कोई प्रकाशित हुआ नहीं दीखता। मुंशी देवी प्रसादजी ने उनके लिखे ग्रंथों में से 'नरसीजी का मायरा', 'गीतगोविंद की टीका' तथा 'रागगोविंद' नामक तीन को माना है, किंतु वे भी लिखते हैं कि मेरे देखने में केवल 'नरसीजी का मायरा' ही आया है। इन उपर्युक्त तीन ग्रंथों को प्रायः सभी लेखक मीराँबाई की रचना मानते हैं। इनके सिवाय मिश्रबंधुओं ने मीराँ-निर्मित 'सोरठ के पदों' की भी चर्चा की है तथा रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने लिखा है "उसका बनाया हुआ 'मीराँबाई का मलार' नामक राग अब तक प्रचलित है"[1]। इसी प्रकार झावेरी महाशय ने मीराँबाई के बनाये हुए बहुत से मधुर 'गर्बा'[2] नामक गीतों का भी उल्लेख किया है। परंतु जान पड़ता है कि आज तक मीराँबाई के सभी ग्रंथों का प्रकाशन नहीं हुआ और न

---

[1]रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा रचित 'राजपूताने का इतिहास' प्रथम खंड, पृष्ठ ३५

[2]गर्बा एक प्रकार के गीत होते हैं जिन्हें विशेषकर गुजराती स्त्रियाँ गाती हैं।

उनकी अनेक रचनाओं को लिपिबद्ध तक करने की कोई पूरी चेष्टा की गई। छोटे-मोटे बाजारू संग्रहों में दिये गए कतिपय भजनों को छोड़कर जो सबसे अच्छा संग्रह आज तक इधर देखने में आया है वह प्रयाग के 'बेलवेडियर प्रेस', द्वारा प्रकाशित 'मीराबाई की शब्दावली' है[1]। इसमें 'चेतावनी का अंग' में ४, 'उपदेश का अंग' में २, 'विरह व प्रेम का अंग' में ७३, 'विनती और प्रार्थना का अंग' में १५, 'मीराँबाई व कुटुंबियों की कहा सुनी' में ६, 'रागहोली' में ८, 'रागसावन' में १०, 'रागसोरठ' में ११, तथा 'मिश्रित अंग' में ३८ पद दिये गये हैं। अंग नामक ये विभाग कदाचित् संपादक महाशय ने अपने यहाँ से प्रकाशित 'संतबानो पुस्तक माला' की अन्य पुस्तकों में दिये गये ढंग पर ही किए हों। 'शब्दावली' में कुल मिलाकर, इस प्रकार, १६७ पद आये हैं जिनमें से 'विरह और प्रेम का अंग' वाले १२वें तथा ५६वें एवं ७१वें पद क्रमशः 'मिश्रित अंग' वाले ११वें तथा १४वें एवं ७४वें पदों से एक दम मिलते-जुलते हैं और 'विरह और प्रेम का अंग' वाले ६वें तथा ४२वें पद तो मानो एक ही हैं। इसके सिवाय अन्य कई पदों में भी बहुत सी पंक्तियाँ दूसरे पद वाली पंक्तियों के समान जान पड़ती हैं। इन उपर्युक्त द्विरुक्तियों के साथ ही इस संग्रह में एक बात यह भी खटकती है कि संपादक महाशय ने कदाचित् इसमें ऐसे अनेक पद रखे हैं जिनका मीराँबाई रचित होना सिद्ध नहीं हो सकता।

मीराँबाई के पदों की भी कबीर के पदों की भाँति ही बड़ी दुर्दशा हो गई है। जान पड़ता है, जिस-जिसने उन्हें गाया है उस-उसने उन्हें अपने रंग में ही रँगने की चेष्टा की है और साथ ही अपने-अपने विचारानुसार मीराँ के भजनों के ढर्रे पर स्वरचित कितने ही ऐसे पद प्रचलित कर दिये हैं जो बिना प्रयत्नपूर्वक देखभाल किए मीराँ रचित ही जान पड़ते हैं। संपादक महाशय अपने संग्रह में तीन-चार ऐसे पद दिये हैं जिनमें रैदास को मीराँ द्वारा गुरु मान

---

[1] **उसके अतिरिक्त आजकल और भी अनेक ऐसे संग्रह दीखने लगे हैं जिन्हें पदों की संख्या तथा उनकी प्रामाणिकता के भी विचार से उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है।—लेखक**

लेना लिखा हुआ है, किंतु मीराँ का जीवनचरित्र लिखते समय उन्होंने इस बात के प्रमाणित करने की कोई चेष्टा नहीं की है कि रैदासजी मीराँबाई के वास्तव गुरु थे। इसलिए जब तक ऐतिहासिक रूप से यह पता न चल जाय कि रैदास जी मीराँबाई का कभी सत्संग हुआ था तब तक ऐसे पदों को मीराँ-रचित मान लेना आपत्तिजनक ही कहलायेगा। संपादक महाशय ने कदाचित् इसी भ्रम के कारण अन्य बहुत से ऐसे पद भी दे दिये हैं जिनमें यद्यपि रैदासजी का नाम नहीं आता तथापि वे वास्तव में संतमत वाले किन्हीं साधुओं की ही कृतियों हैं। मीराँबाई से उनसे कुछ भी संबंध नहीं। मीराँबाई के रैदास आदि की भाँति संत मतावलंबिनी होने का हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। मीराँबाई के इष्टदेव श्री गिरधर नामधारी कृष्ण भगवान् थे और वे सगुण की ही उपासना करती थीं। ईश्वर तथा संसार के संबंध में प्रकट किये गये उनके विचारों का परिचय आगे देंगे। मुंशी देवीप्रसादजी ने काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित अपने 'महिला मृदुवाणी' नामक ग्रंथ में मीराँबाई के केवल २५ भजनों का ही एक छोटा-सा संग्रह दिया है और लिखा है "हमने भजनों के प्राचीन संग्रह दरबार जोधपुर के पुस्तक प्रकाश से मँगाए और अन्य विद्वानों के पुस्तकालय भी देखे तो उनमें लिखे हुए मीराँबाई के पदो में से जो यथार्थ पद उनके बनाये हुए हमको जान पड़े वे हम यहाँ.........लिखते हैं"।[१] इन पदों में से केवल १५ पद ऐसे हैं जो उपर्युक्त 'शब्दावली' में आए हैं। इस संग्रह के शेष १० पद नवीन हैं और वे 'शब्दावली' के अंतर्गत नहीं आ पाए हैं।

सामग्री के अपूर्ण रह जाने के कारण मीराँबाई के तात्त्विक सिद्धांत का पता लगाना बहुत कठिन है, परंतु प्रस्तुत असली पदों पर विचार करने से जान पड़ता है कि मीराँबाई के दार्शनिक विचारों की बानगी उनके निम्नलिखित पद में मिल सकती है—

भजि मन चरण कमल अविनासी ॥ टेक ॥
जे ताइ दीसे धरनि गगन बिच ।
ते ताइ सब उठ जासी ॥ १ ॥

[१] मुंशी देवीप्रसाद द्वारा संपादित 'महिला मृदुवाणी पृष्ठ ६३

कहा भयो तीरथ ब्रत कीने ।
कहा लिए करवत कासी ॥
इस देही का गरब न करना ।
माटी में मिलि जासी ॥ २ ॥
या संसार चहर की बाजी ।
सांझ पड्या उठ जासी ॥ ३ ॥
कहा भयो है भगवा पह्र्याँ ।
घर तज भये सन्यासी ॥
जोगी होय जुगति नहि जानी ।
उलट जनम फिर आसी ॥ ४ ॥
अरज करों अबला कर जोरें ।
स्याम तुम्हारी दासी ॥
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर ।
काटो जम की फाँसी ॥ ५ ॥[1]

मीराँबाई ने इस पद द्वारा अपने इष्टदेव "प्रभु गिरिधर नागर" को 'अविनासी' तथा उसके सामने संपूर्ण दृश्यमान संसार को उठ जाने वाला अथवा अनित्य ठहराया है। 'संसार' वास्तव में असार है क्योंकि जिस शरीर को पाकर हमें अभिमान होता है वह भी अंत को 'माटी' में ही मिल जाने वाला है और योगी भी अपनी साधना के निष्फल होने पर 'उलट' अर्थात् लौटकर पुनर्जन्म धारण करते हैं। संसारी मनुष्य अपने जीवन-काल में भ्रमवश निश्चित पड़े रहते हैं। यह नहीं समझते कि उनका सारा व्यवहार अथवा विहार 'चहर की बाजी' अर्थात् चिड़ियों के खेल के समान है जो संध्या का समय आते ही, चिड़ियों के बसेरा पर चले जाने के कारण, बंद हो जाया करता है। इस नाशमान जगत् के आवागमन से मुक्ति पाने के लिए मीराँ के विचार में तीर्थ-व्रत करना, काशी 'करवत' लेना अथवा भगवा पहनकर अपना घर-बार छोड़

---

[1] 'मीराँबाई की शब्दावली' (बे० प्रे० प्रयाग), शब्द ३, पृष्ठ १

संन्यासी हो जाना बेकार है। इसका उपाय केवल यही है कि अपनी निर्बलता एवं असहायता पर ध्यान देते हुए एक दास की भाँति भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण कर दे और उनके चरण-कमलों का भजन करे। 'जम की फाँसी' अथवा पुनर्जन्म एवं कर्म-बंधन को, प्रसन्न होने पर भगवान् ही काट सकते हैं। इसी भगवान् को मीराँबाई ने 'प्रभु' 'गिरिधर नागर' 'हरि', 'श्याम' 'गोपाल', 'नंदलाल, 'राम' तथा 'स्वामी', आदि कई नामों से पुकारा है। यही मीराँ के सर्वस्व गिरिधर गोपाल हैं जिनके सिवाय संसार में उनका 'दूसरा न कोई' है। इनके सामने 'तात, मात, भ्रात, बंधु' तक भी अपने नहीं और इन्हींके लिए मीरां ने कुल की 'कानि' छोड़ दी और संतों के पास बैठ-बैठ कर लोक-लज्जा तक को तिलांजलि दे दिया।[1] वास्तव में इन इष्टदेव का रूप भी वैसा है। एक बार जहाँ दृष्टि पड़ी कि फिर लोक या परलोक कुछ भी नहीं सुहाता। इनके वर्णन में मीराँ ने कहा है—

मोरन की चंद्रकला सीस मुकुट सोहै।
केसर को तिलक भाल तीन लोक मोहै॥
कुंडल की झलकन कपोलन पर छाई।
मनो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई॥
कुटिल भृकुटि तिलक भाल चितवनि में टौना।
खंजन अरु मधुप मीन भूले मृग छौना॥
सुँदर अति नासिका सुग्रीव तीन रेखा।
नटवर प्रभु भेष धरे रूप अति बिसेखा॥
अधर बिंब अरुन नैन मधुर मंद हाँसी।
दसन दमक दाड़िम दुति चमके चपला सी॥
छुद्र घंट किंकिनी अनूप धुनि सोहाई।
गिरिधर के अंग अंग मीरा बलि जाई॥[2]

---

[1] मीराँबाई की शब्दावली (बे० प्रे० प्रयाग), शब्द ४६ पृष्ठ २४-५

[2] वही, शब्द ६७ पृष्ठ २९-३०

ऐसे ईष्टदेव से मीरॉ का प्रेम हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। ऐसे 'बड़े घर ताली' लगने अर्थात परम पुरुप से लगन हो जाने के कारण ही मीरॉ का चित्त जगत् की कामनाओं से हट गया है। उनका मन छिछले तालाब या गढ़े के पानी अथवा गंगा-यमुना तक में भी नहीं लग सकता अब ये समुद्र से ही जाकर मिल रही हैं। जब स्वयं 'दरबार' से ही बात करने की ठहर गई हो तो फिर हाली-मवाली अथवा अधिकारियों की सहायता की क्या आवश्यकता हो सकती है ?[1]

परंतु 'प्रेम भगति' का रास्ता विचित्र होता है। यह 'न्यारो' है और स्वयं प्रीति 'दुखड़ारीमूल' है। ऐसी दशा में भगवान् से प्रेम का निर्वाह कर लेना और भी कठिन बात है। चारों तरफ़ से गली बंद रहती है और वहाँ तक पहुँचने की राह तक रपटीली है। पैर ही नहीं ठहरते, बड़े यत्नों के उपरांत सोच-सोच कर रखे जाने पर भी डिगने लगते हैं।[2] बात यह है कि हृदय का मैल जब तक न छूट जाय तब तक भक्ति अथवा प्रेम हो ही कैसे सकता है ? काम चांडाल कुत्ते की भाँति लोभ की डोरी में हमें बाँधे रहता है, क्रोध कसाई की भाँति घट में निवास करता है तथा अभिमान एक ऐसे टीले की रचना कर देता है जिस पर प्रेमरूपी जल ठहरने ही नहीं पाता[3] और अंतर्यामी से भी कपट करने की बान पड़ जाती है। हाँ, मीराँ के विषय में यह बात नहीं है। यहाँ तो अनुराग पूर्व जन्म का है और दोनों दिल ऐसे मिल गए हैं जैसे सोना और सोहागा मिल जाते हैं अथवा जैसे चंद्रमा और चकोर एक दूसरे से बँधे रहते हैं।[4] मीराँ का कहना है "जिस प्रकार एक अमली अर्थात् नशे वाले के लिए उसका अमल आधार हुआ करता है उसी प्रकार 'रमैया' मेरा प्राणाधार है। चाहे कोई निंदा करे अथवा स्तुति करे। मुझे सिवाय उसके कोई भी वस्तु पसंद नहीं।'[5] अब

[1] 'मीराँबाई की शब्दावली' (बे० प्रे० प्रयाग), शब्द २७ पृष्ठ १५

[2] वही, शब्द ६१ पृष्ठ २७

[3] वही, शब्द १० पृष्ठ ७

[4] वही, शब्द ११

[5] वही, शब्द ६० पृष्ठ २६

पक्का रंग चढ़ गया और यह अमल किसी प्रकार के उपाय से छूटने वाला नहीं। "दूसरों के प्रियतम अथवा पति परदेशों में रहा कहते हैं जहाँ उन्हें बहुधा पत्रादि भेजने की आवश्यकता पड़ा करती है, परंतु मेरा पति सदा मेरे हृदय में ही निवास करता है और उसके साथ मैं दिन रात रहस्यमयी बातें किया करती हूँ।"[१] उसकी 'सूरत' मेरे मन में है जिसका ध्यान नित्यशः करती हुई सर्वदा आनंद में मग्न रहा करती हूँ और प्रीति की ख़ुमारी साँप के विष के समान चढ़ी रहती है। कभी-कभी तो मेरी इच्छा ऐसी होती है —

मैं तो म्हाँरा रमैया ने, देख्यो करूँ री ॥ टेक ॥
तेरो ही उमरण तेरो ही सुमरण, तेरो ही ध्यान धरूँ री ॥१॥
जहाँ जहाँ पाँव धरूँ धरणी पर, तहाँ तहाँ निरत करूँ री ॥२॥
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, चरणाँ लिपट परूँ री ॥३॥[२]

अथवा

गोहनें गुपाल फिरूँ। ऐसी आवत मन में ॥
अवलोकत बारिज बदन। बिबस भई तन में ॥१॥
मुरली कर लकुट लेऊँ। पीत बसन धारूँ ॥
आछी गोप भेष मुकट। गोधन सँग चारूँ ॥२॥
हम भई गुल कामलता। वृंदाबन रैनाँ ॥
पसु पंछी मरकट मुनो। श्रवन सुनत बैनाँ ॥३॥"[३] **इत्यादि**

अपने प्रियतम के पास पत्र लिखते समय की दशा के विषय में जो मीराँ ने पद लिखा है वह बहुत ही उत्तम है। प्रेम-रस से ओतप्रोत प्रेमी की दशा बड़ी विचित्र है। मीराँबाई लिखती हैं—

---

[१] **'मीराँबाई की शब्दावली', (बे० प्रे० प्रयाग) शब्द ६२ पृष्ठ २७**

[२] **वही, शब्द ३१ पृष्ठ १६-१७**

[३] **मु० देवीप्रसाद : 'महिला मृदुवाणी' (काशी नागरी प्रचारिणी सभा) सन् १६०५ ई०**

पतियाँ मैं कैसे लिखूँ. लिखीही न जाई ॥ टेक ॥
कलम भरत मेरो कर कंपत, हिरदो रह्यो घरराई ॥१॥
बात कहूँ मोहि बात न आवै, नैन रहे झरराई ॥२॥
किस बिध चरण कमल मैं गहिहूँ, सबहि अंग थरराई ॥३॥
मीराँ कहे प्रभु गिरधर नागर, सबही दुख बिसराई ॥४॥[1]

वास्तव में यह प्रेम की स्तब्धावस्था है, जब कि प्रेमी एकदम जड़वत् मूक एवं निश्चल तक हो जाता है और लाख मानसिक प्रयत्न भी उसकी निष्क्रियता दूर नहीं कर पाते। मीराँ ने इसी प्रकार, प्रेम की तन्मयावस्था के वर्णन में भी, किसी ग्वालिन की दशा का परिचय दिया है —

कोई स्याम मनोहर ल्गोरी। सिर धरे मटकिया डोलै ॥
दधि को नाँव बिसर गई ग्वालन। हरि ल्यो हरि ल्यो बोलै ॥१॥
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर। चेली भई बिन मोलै ॥
कृष्ण रूप छकी है ग्वालिन। औरहि औरे बोलै ॥२॥[2]

मीराँबाई एक बड़े घराने की लड़की और उससे भी प्रतिष्ठित कुल की रमणी थीं, इस कारण, वंश-परंपरा के प्रतिकूल उनका राह पकड़ना देख उनकी ओर लोग आश्चर्य की दृष्टि से देखने तथा उन्हें अनेक प्रकार से समझाने लगे थे। बार-बार उनकी कुल मर्यादा के साथ साधु सुलभ जीवन की तुलना करते हुए वे उन्हें अपनी लोक-लज्जा की रक्षा करने का उपदेश देते तथा उन्हें भक्तिमार्ग से छुड़ाना चाहते थे। किंतु मीराँ का हठ अपूर्व था, एक बार निश्चय कर लेने पर वे सच्ची राजपूत बाला की भाँति अपने आदर्श का त्याग करने में असमर्थ थीं, इसलिए उन्हें अपने पदों में अनेक बार अपनी दृढ़ता का प्रसंग लाना पड़ा है। 'मेरो गिरधर गोपाल' वाले पद एवं अन्य और पदों में भी उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि जो होना हो होता रहे अब तो कोई बात छिपी नहीं।

---

[1] 'मीराँबाई की शब्दावली' (बे० प्रे० प्रयाग), शब्द ३६, पृष्ठ १६

[2] मु० देवी प्रसाद : 'महिला मृदुवाणी' (का० ना० प्र० सभा) सन् १६०५ ई०

बट-बीज की भाँति चारों ओर फैल चुकी है और लोग जान भी गए हैं। प्रीति करते समय यदि चाहती तो मैं हट भी सकती थी, किन्तु अब बीच धार में आ चुकने पर सोच-विचार करने का कोई अवसर नहीं रह गया। अब कलाबाज नट की भाँति एक बार जहाँ चूके कि फिर कोई 'ठौर' नहीं मिल सकता। मानापमान दोनों को सिर से उतार कर पटक दिया[1] और प्रकट रूप में नाचने लगी। अब तो—

मीराँ गिरिधर हाथ बिकानी। लोग कहैं बिगड़ी॥[2]

इसलिए अपना निश्चय यह है—

भली कहो कोई बुरी कहो मैं। सम लई सीस चढ़ाय॥[3]

मीराँ के प्रेम में इसी प्रकार, आत्म-समर्पण का भाव भी विद्यमान है। इस विषय का नीचे लिखा पद गुजराती में भी बहुत प्रसिद्ध है—

प्रेमनी प्रेमनी प्रेमनी रे,
मन लागी कटारी प्रेमनी रे॥ टेक॥
जल जमुना माँ भरवा गया ताँ,
हती गागर माथे हेमनी रे॥ १॥
काँचै ते ताँतणे हरिजी ये बाँधी,
जेम खेंचे तेम तेमनी रे॥ २॥
मीराँ को प्रभु गिरिधर नागर,
साँवली सुरत सुभ एमनी रे॥३॥[4]

इसमें 'काँचे ते ताँतणे हरिजी ये बाँधी, जेम खेंचे तेम तेमनी रे' पंक्ति विशेष महत्त्व की है। प्रेम-पात्र ने प्रेमी को केवल कच्चे धागे में ही कठपुतली की भांति बाँध रखा है और जैसे चाहे वैसे खींच खांच कर नचाता है।

---

[1] 'मीराँबाई की शब्दावली' (बे० प्रे० प्रयाग), शब्द १७ पृष्ठ ४६
[2] वही, शब्द ४२ पृष्ठ २०
[3] वही, रागमारू पृष्ठ ४०-१
[4] वही, शब्द ३६, पृष्ठ १८

मीराँबाई के विरह-संबंधी पद भी अधिकतर ऐसे हैं जिनसे मीराँ का अपने इष्टदेव को पतिवत मानकर उनसे व्यवहार करना सिद्ध होता है। मीराँ का कहना है—"बड़े दुःख की बात है कि हरि ने मेरी बात ही न पूछी। सारी रात न तो पर्दा हटाया और न मुँह से कुछ बोले ही। स्वप्न में दर्शन दिए और आँखें खुलते ही जाते हुए दीख पड़े। मैं अब रह-रह कर पछताती हूँ।[1] मैं प्रेम की दीवानी बनी फिरती हूँ और मेरा दर्द कोई पहचान नहीं पाता। बात यह है कि घायल की दशा या तो घायल ही बतला सकता है अथवा उसे घायल करनेवाला जानता है। दर्द से बेचैन होकर बन-बन डोलती फिरती हूँ परंतु कोई वैद्य नहीं मिलता। बिना 'साँवलिया' के मीराँ की पीर नहीं मिट सकती।[2] इस कारण उसके मिलन तक किसी प्रकार से कल नहीं। शरीर क्षीण होता जा रहा है और मुख से बार-बार 'पिय-पिय' की आवाज़ निकलती रहती है। विरह की पीड़ा भीतर सता रही है और वह इसे जान नहीं पाता। जैसे चातक बादल के लिए और मछली पानी के लिए घबड़ाती है उसी प्रकार व्याकुल होने के कारण मेरी भी 'सुध-बुध' नष्ट हो गई है।"[3] अपनी विवशता के विषय में मीराँ कहती हैं—

मैं विरहिन बैठी जागूँ,
जगत सब सोवै री आली ॥ टेक ॥
विरहिन बैठी रंग महल में,
मोतियन की लड़ पोवै।
इक विरहिन हम ऐसी देखी,
अँसुवन की माला पोवै ॥ १ ॥
तारा गिण गिण रैंण बिहानी,
सुख की घड़ी कब आवै।

[1]'मीराँबाई की शब्दावली' (बे० प्रे० प्रयाग), शब्द १, पृष्ठ ३
[2]वही, शब्द ३, पृष्ठ ४
[3]वही, शब्द ४८ पृष्ठ २३

मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर,
मिल के बिछुड़ न जावै ॥ २ ॥[1]

मीराँ ने सबसे स्पष्ट भार्योचित उद्गार नीचे लिखे उपालंभ द्वारा व्यक्त किया है—

श्याम म्हासूँ ऐंडो डोले हो ॥
औरन सूँ खेले धमार।
म्हासूँ मुखहूँ ना, बोले हो ॥ श्या० ॥ १ ॥
म्हाँरी गलियाँ ना फिरे।
वाके आंगण डोले हो ॥ श्या० ॥ २ ॥
म्हाँरी आँगुली ना छुवे।
वाकी बहियाँ मोरे हो ॥ श्या० ॥ ३ ॥
म्हारो अँचरा ना छुवे।
वाको घूंघट खोले हो ॥ श्या० ॥ ४ ॥
मीराँ के प्रभु साँवरो।
रँग रसिया डोले हो ॥ श्या० ॥ ५ ॥[2]

मीराँबाई ने बहुत से पद श्रीकृष्ण की दधि-लीला, वंशी-लीला, पनघट-लीला, चीरहरण-लीला, आदि विविध लीलाओं के विषय में भी लिखे हैं 'जनकी सुंदरता और मधुरता से प्रभावित होकर एवं मीराँ की 'पूर्व जन्म का कौल', 'पूर्व जन्म की प्रीति' आदि पुनरुक्तियों पर विचार करते हुए लोग बहुधा उन्हें गोपियों का अवतार कहा करते हैं। यह भी प्रसिद्ध है कि अपनी बाल्या-वस्था में मीराँ ने श्रीकृष्ण की मूर्ति को देखकर पूछा था कि ये कौन हैं तो किसी ने हँसी में उस मूर्ति को उनका दुल्हा कह दिया था और तभी से मीराँ ने श्रीकृष्ण को अपना पति मान लिया था। जो हो, मीराँ की भक्ति में दाम्पत्य-प्रेम

---

[1] **'मीराँबाई की शब्दावली' (बे० प्रे० प्रयाग), शब्द ५१ पृष्ठ २३**

[2] **वही, शब्द पृष्ठ ५३**

का पुट प्रायः प्रत्येक स्थल पर वर्त्तमान है। मीराँबाई के बहुत से पद ऐसे भी मिलते हैं जिनमें उन्होंने अपने कुटुंबियों द्वारा दिये गए कष्टों का भी थोड़ा बहुत उल्लेख किया है। पता नहीं ऐसे पदों में से कौन-कौन उनके बनाये हुए हैं और कौन से प्रक्षिप्त हैं। मुंशी देवीप्रसादजी द्वारा मीराँ रचित माना हुआ एक पद नीचे देते हैं। मीराँ अपने देवर महाराणा से कहती हैं—

मीराँ लागो रंग हरी।
सब रँग अटक परी॥ टेक॥
गिरिधर गास्याँ सती न होस्याँ।
मन बसिया घन नामी॥
जेठ बहू को नातो नाहीं।
तुम सेवक हम स्वामी॥ १॥
छाया तिलक मनोहर बानी।
सील सँतोष सिँगारो॥
और कछू न भावे हां राणा।
ओ गुर ज्ञान हमारो॥ २॥
गिरिधर धैणी कुटंबी गिरधर।
मात पिता सुत भाई॥
थे थाँरे म्हे म्हाँरे हो राणा।
गावै मीराँ बाई॥ ३॥[1]

इससे प्रकट होता है कि मीराँ ने अपने को गिरिधर के ऊपर निछावर करके किस प्रकार अपना मन विरक्त कर लिया था।

मीराँबाई के पदों में उपर्युक्त बातों के सिवाय काव्य तथा संगीत की सामग्री भी प्रचुर मात्रा में मिलेगी। इनका प्राय; प्रत्येक पद ऐसे हृदयस्थित

[1] मुं० देवीप्रसाद 'महिला मृदुवाणी' (का० ना० प्र० सभा) सन् १६०५ ई०

अव्यक्त भावों से भरा हुआ है जो बिना किसी प्रयास के ही अपने स्थान से स्वभावतः निकल पड़े हैं, और इसी कारण जिनका रूप हठात् संगीतमय बन गया है। इसी प्रकार इनकी रचना में जहाँ कहीं प्रकृत काव्य के चिह्न मिलते हैं वे भी इनके परिश्रम के फलस्वरूप नहीं जान पड़ते हैं। मीरॉबाई पहले विशुद्ध प्रेम में मग्न रहने वाली भक्ति मार्गावलंबिनी एक व्यक्ति हैं तब कहीं काव्य अथवा संगीत की रचयित्री अथवा और कुछ हैं। इनके अधिकांश पद गोस्वामी तुलसीदासजी के समान 'स्वान्तः सुखाय' लिखे हुए जान पड़ते हैं और इनकी कविता रसखान की भाँति बाँचने को नहीं प्रत्युत गाने की चीज है। इनकी रचनाओं को लिरिक[1] अथवा गीत-काव्य कहना चाहिए। 'मेरो गिरिधर गोपाल', 'जबते मोहि नंद नँदन', आदि कई पदों के सिवाय जिनके कुछ अंश ऊपर आ चुके है और भी कुछ उत्तम पदों को हम नीचे उद्धृत करते हैं—

(१)

सखी री लाज बैरन भई ॥टेक॥
श्री लाल गोपाल के सँग काहे नाहीं गई ॥१॥
कठिन क्रूर अक्रूर आयो साजि रथ कँह नई ॥२॥
रथ चढ़ाय गोपाल लैगो हाथ मींजत रही ॥३॥
कठिन छाती श्याम बिछुरत विरह तें तन तई ॥४॥
दास मीराँ लाल गिरिधर बिखर क्यों ना गई ॥५॥[2]

(२)

रँग भरी रँग भरी रँग सूँ भरी री,
होली आई प्यारी रँग सूँ भरी री ॥१॥
उड़त गुलाल लाल भये बादल ;
पिचकारिन की लगी झरी री ॥२॥

---

[1]Lyric

[2]**'मीराँबाई की शब्दावली' (बे० प्रे० प्रयाग), शब्द १४, पृष्ठ ६**

चोआ चंदन और अरगजा
केसर गागर भरी धरी री ॥३॥
मीराँ कहे प्रभु गिरिधर नागर,
चेरी होय पाँयन मे परी री ॥४॥[1]

(३)

बादल देख झरी हो, स्याम मैं बादल देख झरी ॥टेक॥
काली पीली घटा उमंगी, बरस्यो एक घरी ॥१॥
जित जाऊँ तित पानिहि पानी, हुई सब भोम हरी ॥२॥
जाका पिव परदेस बसत है भीजें बार खरी ॥३॥
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, कीज्यो प्रीत खरी ॥४॥

(४)

बसो मेरे नैनन में नंदलाल !
मोहिनी मूरति साँवरी सूरति, नैना बने बिशाल ॥१॥
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल, अरुण तिलक दिये भाल।
अधर सुधा रस मुरली राजति, उर बैजंती माल ॥२॥
छुद्र घंटिका कटि तटि सोभित, नूपुर शब्द रसाल।
मीराँ प्रभु संतन सुखदाई, भक्त बच्छल गोपाल ॥३॥[3]

(५)

मन रे परसि हरि के चरण ॥टेक॥
सुभग सीतल कँवल कोमल, त्रिबिध ज्वाला हरण।
जिण चरण प्रहलाद परसे, इंद्र पदवी धरण ॥१॥

---

[1]'मीराँबाई की शब्दावली' (बे० प्रे० प्रयाग), ६, पृष्ठ ४६
[2]वही, शब्द २, पृष्ठ ४७
[3]वही, शब्द रागदेवगन्धार, पृष्ठ ५१

जिण चरण ध्रुव अटल कीनो, राखि अपनी सरण।
जिण चरण ब्रह्मांड भेट्यो, नखसिख सिरी जरण ॥२॥
जिण चरण प्रभु परसि लीने, तरी गोतम घरण।
जिण चरण कालो नाग नाथ्यो, गोप लीला करण ॥३॥
जिण चरण गोबरधन धार्यो इंद्र को गर्व हरण।
दासि मीराँ लाल गिरिधर, अगम तारण तरण ॥४॥[१]

मीराँ का स्थान संसार के प्रसिद्ध स्त्री-कवियों में बहुत ऊँचा है। मीराँ ने कवि होकर कदाचित् कभी लिखने का विचार नहीं किया और न प्राकृत कवियों की भाँति कविसुलभ प्रतिष्ठा की प्राप्ति उनका कभी ध्येय रहा। उन्होंने पदों की रचना इसलिए की कि वे बिना ऐसा किए रह ही नहीं सकती थीं। मीराँ के लिए भी हम वही कह सकते हैं जो ग्रीस देश की परम प्रसिद्ध स्त्री-कवि सैफ़ो[२] (ईसा से पूर्व छठीं सदी) के लिए किसी ने कहा है। अर्थात—

"गीत की वेदना और आनंद में मत्त, प्रेम की पुजारिन।
प्रेम के आनंद और वेदना में मत्त, गीत की पुजारिन॥"[३]

और, ये शब्द मीराँ के लिए अत्यंत उपयुक्त हैं।

---

[१] 'मीरांबई की शब्दावली', (बे० प्रे० प्रयाग) शब्द १ पृष्ठ २-३

[२] Sappho.

[३] "Love's priestess mad with pain and joy of song,
Song's priestess mad with joy and pain of Love."
(Quoted in Introduction to 'Sappho': One hundred Lyrics' King's Classics p. XIV)

मीराँबाई की भक्ति का स्वरूप

मीराँबाई की उपलब्ध रचनाओं को पढ़ते समय हमें भक्ति-साधना के विभिन्न रूप लक्षित होते हैं। प्रसिद्ध है कि उन्हें अपने बचपन से ही श्रीकृष्ण की किसी सुन्दर मूर्ति के प्रति विशेष आकर्षण हो गया था और वे उसके प्रति भक्ति-प्रदर्शन करने लग गई थीं। मूर्ति को उन्होंने सदा अपने निकट रखने की चेष्टा की और उसे अपना इष्टदेव का प्रतीक मान उसका वे पूजन करती रहीं। श्रीकृष्ण की 'निपट बंकिम छवि' के साथ अपने नेत्रों के उलझ जाने तथा उनके अंग-अंग पर बलि जाने का वर्णन करती हुई वे तन्मय हो जाती दीख पड़ती है और जान पड़ता है कि उनके अनुपम सौंदर्य द्वारा वे पूर्णतः प्रभावित हैं। उनकी यह रूपासक्ति इतनी प्रबल है कि इसके कारण वे एक क्षण के लिए भी स्थिर या शांत रहती हुई नहीं जान पड़तीं और उस मनोहर स्वरूप का स्मरण एवं चिंतन करती हुई वे अपना सारा जीवन ही व्यतीत कर देती हैं। कहा जाता है कि मीराँबाई ने उक्त मूति का सदा षोड़शोपचार के साथ पूजन एवं अर्चन किया, श्रीकृष्ण की सुन्दर-सुन्दर मूर्तियों के दर्शनार्थ वे वृन्दावन जैसे तीर्थ-स्थानों में भटकती फिरीं। अन्त में द्वारका में प्रतिष्ठित रणछोर की मूर्ति की आराधना करती हुई वे उसमें 'समाकर' अन्तरध्यान हो गईं।

इसी प्रकार हम यह भी देखते हैं कि मीराँबाई अपने इष्ट देव के भजन एवं कीर्तन में सदा लीन रहती हैं। अपने इष्टदेव की उक्त मूर्ति के समक्ष खड़ी होकर वे उसकी विविध लीलाओं का गान करती हैं और उसके गुणों का वर्णन करती हैं, वे, 'तजि सिंगार बांधि पग घुंघरू'' और लोक-लाज तजि नाचने को उद्यत हो जाती है। वे कहती हैं "गाय गाय हरि,के गुण निसदिन" मैं 'काल व्याल' से बच गई हूँ। वे "साधां आगे" ताल पखावज मिरदंग बाजा" का वादन होते समय नृत्य करती हैं और अपने इस कीर्तन में इतनी विभोर हो

जाती है कि लोग उन्हें 'बावरी' तक कहने लग जाते हैं। मीराँबाई की यह साधना-पद्धति उक्त पूजन एवं अर्चन में भी कहीं अधिक स्पष्ट वा प्रत्यक्ष हो जाती है और इसकी चर्चा होने लगती है। सर्वसाधारण तक इस बात का प्रचार होता देखकर उनके घर के लोग घबड़ाने लगते हैं और अपने उच्च कुल की मर्यादा का इसके द्वारा उल्लंघन होता हुआ समझकर उनके प्रति कुछ अंशों तक एक प्रकार की घृणा भी प्रदर्शित करने लगते हैं। वे मीराँबाई को ऐसा न करने का बार-बार अनुरोध करते हैं और जब वे इससे विरत होती हुई नहीं दिखतीं तो उन्हें कष्ट भी देते हैं। कुछ पदों से प्रकट होता है कि उन्हें अपनी टेक में दृढ़ देखकर महाराणा उनके जीवन का विष द्वारा अन्त कर देने तक पर तुल जाते हैं।

मीराँबाई की साधना का तीसरा रूप उनके 'निर्गुण सम्प्रदाय' वा संत-मत विशिष्ट सुरति शब्द योग को अपनाने के सम्बन्ध में रचे गये पदों द्वारा भी लक्षित होता हुआ जान पड़ता है। वे 'त्रिकुटी महल' में बने हुए 'झरोखे' से झाँकी लगातीं और 'सुन्न महल' में सुरत जमाकर सुख की सेज बिछाती' हुई दीख पड़ती हैं तथा 'सुमिरन थाल' को हाथ में लेकर तथा 'सेज सुखमणा' पर सुशोभित होकर अपनी 'सुभ घड़ी' मनाती हुई जान पड़ती हैं वे अपने 'पिया की सेज' का 'गगन मण्डल' में होना बतलाती हैं, 'बिन करताल पखावज' की सहायता के भी अपने घट के भीतर 'अनहद की झंकार' सुना करती हैं, 'अगम के देस' की ओर प्रस्थान करती हुई प्रतीत होती हैं और इष्ट देव 'आदि अनादि साहब', 'निरंजन' अथवा 'ब्रह्म' के साथ एकाकार हो जाने की चेष्टा में अपनी 'सुर' के झकोला, खाने की भी चर्चा करती हैं। वे अपने पिया के 'महल' को राह को ऊँची-नीची तथा 'रपटीली' बतलाती हैं और उसे विघ्न-बाधाओं से पूर्ण भी कहकर उसको ओर क्रमशः धीरे-धीरे अग्रसर होती हुई दिखती हैं। इतना ही नहीं, मीराँबाई के कुछ उपलब्ध पदों से संत रैदास का उनका गुरु होना भी लक्षित होता है और एक स्थल पर तो वे स्पष्ट शब्दों में कह देती हैं "रैदास सन्त मिले मोहि सतगुरु, दीन्हा सुरति सहदानी। मैं मिली जाय पाय पिय अपना, तब मोरी पोर बुझानी॥"

मीराँबाई की उपलब्ध रचनाओं के अंतर्गत उक्त तीनों प्रकार की साधनाएं विशेष रूप से देखने को मिलती हैं। फिर भी उनमें से किसी न किसी एक को ही प्रधानता देकर उसके अनुसार, मीराँ को संप्रदाय विशेष की भक्तिन मानने की परंपरा चल निकली है और भिन्न-भिन्न लोग उन्हें क्रमशः वल्लभ-संप्रदाय चैतन्य-संप्रदाय वा निर्गुण-संप्रदाय की अनुसारिणी कहने लगे हैं। प्रथम मत के समर्थकों का कहना है कि मीराँबाई के पदों में दीख पड़ने वाली उक्त साधना के अतिरिक्त उनके अनुमान की पुष्टि कुछ ऐतिहासिक प्रमाणों के द्वारा भी होती जान पड़ती है और इसके लिए वे उक्त संप्रदाय की प्रसिद्ध दो 'वार्त्ताओं' का उल्लेख करते हैं। '२५२ वार्ता' के अनुसार मीराँबाई को किसी देवरानी अजब कुँवरबाई को विट्ठलनाथजी ने अपनी शिष्या बनाली थी। इसी प्रकार '८४ वैष्णव की वार्त्ता' के अनुसार उसका स्वयं पुरोहित रामदास वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित हुआ था। इसके सिवाय आगे चलकर मेवाड़ राज्य के अंतर्गत श्रीनाथजी के मंदिर की प्रतिष्ठा जम जाने पर यह सारा प्रदेश उक्त संप्रदाय का एक प्रधान केन्द्र बन गया और वहाँ की किसी एक मूर्ति को मीराँबाई का 'प्रथम इष्ट देव' तक मान लिया गया। परंतु उक्त दोनों वार्त्ताओं की प्रामाणिकता में अभी तक बहुत कुछ संदेह किया जाता है और यदि वे दोनों ऐतिहासिक तथ्यों का सच्चा विवरण देतीं भी हों तो भी केवल ऊपर दिये गए कतिपत प्रयोगों के आधार पर ही स्वयं मीराँबाई का भी पुष्टिमार्गानुगामिनी होना प्रमाणित नहीं होता ८४ वार्त्ता में आये हुए गोविंद दुबे तथा कृष्णदास के प्रसंगों से तो यहाँ तक अनुमान किया जा सकता है कि मीराँबाई के साथ वल्लभ-संप्रदाय वालों का संबंध बहुत अच्छा नहीं था और उसे सुधारने की चेष्टा भी कभी-कभी होती रहती थी।

मीराँबाई को चैतन्य-संप्रदाय की अनुगामिनी सिद्ध करने की चेष्टा करने वाले भी इसी प्रकार की चर्चा करते देखे जाते हैं 'उनका कहना है कि मीराँबाई के समय में श्रीरूप एवं सनातन नामक दो गौड़ीय वैष्णवों का प्रभाव वृन्दाबन में बहुत प्रबल था और उन दोनों के भतीजे जीवगोस्वामी के साथ मीराँ की भेंट भी हुई थी। प्रसिद्ध है कि मीराँबाई अपनी वृन्दावन-यात्रा के अवसर पर श्री जीवगोस्वामी के मठ पर गयी थीं। इनके यह कहला भेजने पर कि मैं स्त्रियों

से कभी नहीं मिलता उन्होंने उत्तर दिया था "मैं तो अब तक समझती थी कि वृन्दाबन में भगवान श्रीकृष्ण ही एकमात्र पुरुष हैं और अन्य सभी लोग केवल स्त्री वा गोपी रूप हैं, मुझे आज ज्ञात हुआ है कि भगवान् के अतिरिक्त अपने को पुरुष समझने वाले यहाँ अन्य व्यक्ति भी विद्यमान हैं" और इस बात से प्रभावित होकर श्री जीवगोस्वामी उनसे बाहर आकर मिले थे। इस घटना के अनतर मीराँबाई का वृन्दाबन में उक्त गोस्वामी के ही निकट कुछ काल तक ठहर जाना तथा सत्संग करना भी बतलाया जाता है। श्री वियोगी हरि ने तो स्पष्ट शब्दों में कह डाला है कि मीराँबाई के "सिद्ध गुरु जीव गोस्वामी ही थे"। वे इसी कारण, चैतन्य-संप्रदाय की ही 'वैष्णवी' थीं तथा उन्होंने श्री चैतन्य महाप्रभु के संबंध में एक पद बनाकर उसमें अपने को "गौरीकृष्ण की दासी" भी मान लिया था, परंतु मीराँबाई की उक्त वृन्दाबन-यात्रा का कोई ऐतिहासिक विवरण नहीं मिलता। हमें इस बात का भी अभी तक पता नहीं कि उक्त गौड़ीय वैष्णव भक्तों का भी कभी मेवाड़ की ओर भ्रमण हुआ था वा नहीं। मीराँबाई (सं० १५५५-१६०३) से श्रीजीवगोस्वामी (सं० १५६८-१६५३) अवस्था से कुछ छोटे ठहरते हैं और उनके लिए प्रसिद्ध है कि अपनी २० वर्ष की अवस्था में वे निरंतर वृन्दाबन में ही रहे थे। इसके सिवाय श्री वियोगी हरि ने जिस पद का उल्लेख किया है उसका किसी प्राचीन प्रामाणिक संग्रह में मिलना भी सिद्ध नहीं।

उक्त तीसरे मत के समर्थकों का कहना है कि मीराँबाई के संतमतानुमोदित भावों पर स्पष्ट "रैदासी रंग" चढ़ा हुआ है और उनकी प्रेमलक्षणा-भक्ति में वे ही बातें लक्षित होती हैं जो 'निर्गुणमार्गियों की विशेषता' है। फिर भी ये लोग संत रैदास एवं मीराँबाई को समकालीन सिद्ध करने में सफल होते हुए नहीं दीख पड़ते और इनके उनसे 'आध्यात्मिक प्रेरणा' करने की चर्चा भर कर देते हैं। अब तक उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर उक्त दोनों का समसामयिक होना न देखकर कुछ लोग यह भी अनुमान करने लगे हैं कि मीराँबाई के ऊपर कदाचित् संत रैदास की 'बानी' का पूर्ण प्रभाव रहा हो अथवा वे किसी 'रैदासी संत' की शिष्य रही हों। नाभादास की प्रसिद्ध 'भक्त माल' से पता चलता है कि

भक्त बीठलदास 'रैदासी' कहलाते थे, किन्तु उनके समय का कोई परिचय नहीं मिलता। चित्तौड़गढ़ में निर्मित महाराणा कुंभ के कुंभश्याम वाले मंदिर के निकट ही एक छोटा-सा मंदिर बना हुआ है जिसे 'मीराँबाई का मंदिर' कहा जाता है और उस मंदिर के ठीक सामने बनी हुई एक छतरी के नीचे 'संत रैदास की पादुका' वा दो चरण-चिह्न बने हैं। छतरी के भीतरी भाग में, चरण-चिह्नों के ठीक ऊपर एक विचित्र आकृति बनी हुई है जिसमें एक मुख, दो हाथ और दो पैर दीख पड़ते हैं और जान पड़ता है कि एक ही व्यक्ति पाँच जोड़े पैरों के द्वारा घूम रहा है। आकृति के एक हाथ में कोई छोटी कटारी जैसी वस्तु है जिसे रैदास की 'राँपी' या चमड़ा काटने का हथियार विशेष कहा जाता है। आकृति के ललाट पर वैष्णव भेष के अनुकूल तिलक भी निर्मित है जिसे उसे संत रैदास सिद्ध करने के प्रमाण में दिखलाया जाता है। परन्तु, यह सब कुछ होते हुए भी, उसे संत रैदास का ही प्रतीक मान लेना, अन्य प्रमाणों के अभाव में उचित नहीं कहा जा सकता। मीरांबाई को संत रैदास की शिष्या तब माना जाय जब उनका समय और भी पहले स्थिर हो सके। वे महाराणा कुंभ मृत्यु (सं० १५२५) की पत्नी सिद्ध हों जैसा कि, बहुत काल से आती हुई जनश्रुति के आधार पर कर्नल टाड ने अनुमान किया था। ऐसी दशा में उनका श्री वल्लभाचार्य (सं० १५३६-१५८७) अथवा श्री चैतन्य महाप्रभु (सं० १५४२-१५९१) के संप्रदायों की अनुगामिनी होने का प्रश्न भी आप से आप गिर जायगा।

मीराँबाई की भक्ति का स्वरूप, वास्तव में, उनके पदों में आये हुए कतिपय संकेतों के आधार पर ही नहीं निश्चित किया जा सकता न, ऐसे किसी निर्णय के प्रमाण में, कुछ किंवदंतियों की सहायता ले लेने से ही काम चल सकता है। इसके लिए हमें मीराँबाई के जीवन वृत्तों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होगी और यह भी देखने होगा कि उनका मानसिक विकास किस प्रकार हुआ था। मीराँबाई की जीवनी से सम्बन्ध रखने वाली जो कुछ भी सामग्री आज तक उपलब्ध है उससे पता चलता है कि उनके जीवन में दो नितांत भिन्न-भिन्न प्रकार की घटनाएँ उनके ऊपर बराबर प्रभाव डालती रहीं।

इन दोनों में से एक उन्हें, अपने स्वजनों से रहित कर इनकी मानसिक प्रवृत्ति को सदा खेदयुक्त एवं शोकाकुल करती आई और दूसरी उसे श्रीकृष्ण की ओर अधिकाधिक ले जाती रही। कहा जाता है कि उनकी केवल पांच वा छः वर्ष की ही अवस्था में उनकी माता का देहांत हो गया और फिर कुछ ही पीछे उनके पिता भी मर गए। अपनी माता के मर जाने के अनन्तर वे अपने दादा रावदूदाजी के साथ रहती रहीं और उनके पिता बहुधा लड़ाइयों में भाग लेते रहे। जब रावदूदाजी का देहांत हो गया और उनके पति भोजराज एवं ससुर महाराणा भी चल बसे तो उनका आत्मीय वर्ग प्रायः नष्ट हो गया और वे क्रमशः अपने को अकेली तथा सुखविहीन समझने लगीं उनका मन बराबर खिन्न एवं विरक्तिपूर्ण हो गया। परन्तु एक ओर जहाँ उनका अपने स्वजनों से बिछोह होता जा रहा था वहाँ दूसरी ओर वे श्री कृष्ण के प्रति अधिकाधिक खिचती जा रही थीं और संसार की ओर से बढ़ती हुई उदासीनता उन्हें क्रमशः आध्यात्मिक चिंतन की ओर प्रवृत्त होने के लिए विवश भी कर रही थी। मीरांबाई के बचपन में उनका पोषण रावदूदाजी के यहाँ हुआ था जो एक परमवैष्णव भक्त थे। अतएव श्रीकृष्ण की मूर्ति जिसे उन्होंने सर्व प्रथम कदाचित् एक बालसुलभ खिलवाड़ के लिए ही अपनाया था उनके अपने दादा के यहाँ रहते समय, क्रमशः उनके इष्टदेव का रूप ग्रहण करने लगी और एक साधारण गुड़िया की श्रेणी से निकलकर भगवान् में परिणत हो गई। फिर तो पति का भी देहांत हो जाने पर उसका उनके लिए आधार बन जाना तक स्वाभाविक हो गया और वे उसे लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की प्रतिकृति मानकर उसका गुणगान करने तथा उन्हें रिझाने का एकमात्र साधन समझने लगीं। अन्त में भगवान् के प्रति अनुरक्ति ने उनकी उनके भक्तों के साथ भी आत्मीयता स्थापित करदी जिनके सत्संग के प्रभाव से उन्हें आध्यात्मिक प्रेरणा मिल गई।

इस प्रकार, यदि मीरांबाई के मानसिक विकास को उनकी धार्मिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से देखते हैं तो हमें उनकी भक्ति के वास्तविक स्वरूप के समझने में अच्छी सहायता मिलती हुई दीख पड़ती है। कोरे मूर्ति-पूजन से

आरम्भ होकर क्रमशः अवतारी भगवान् श्रीकृष्ण के गुणगान और अन्त में उन्हें निर्गुण ब्रह्म के रूप में देखने में परिणत हो जाना उनकी भक्ति के विकास का रूप रहा। इस प्रकार उसके अन्तर्गत उन सभी साधनाओं का उसमें प्रवेश पा जाना भी कोई असम्भव बात न थी। वय के विकास के साथ-साथ मानसिक विकास का होता जाना भी स्वाभाविक है। यदि अनुकूल परिस्थितियां का सहयोग प्राप्त होता रहे, तो यह भी आवश्यक है कि उसमें स्थूल से सूक्ष्म एवं सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति जाग्रत हो। मूर्ति के विधिवत् पूजन एवं अर्चन की परम्परा भी वल्लभाचार्य के बहुत पहले से ही चली आती थी और कीर्तन की पद्धति कम से कम देवर्षि नारद से लेकर सन्त नामदेव तक भलीभाँति प्रचलित हो चुकी थी। इन दोनों के लिए दीक्षा अपेक्षित न थी, निर्गुणोपासना के रहस्य को समझने के लिए तथा उसके पारिभाषिक शब्दों से परिचित होने के लिए सत्संग की आवश्यकता थी जो मीराबाई के सम्बन्ध में, सम्भवतः, उनके घर साधुओं के आते रहने तथा उनकी तीर्थयात्रादि से पूरी हो गई। मीराँबाई द्वारा प्रयुक्त संतमत की शब्दावली मात्र से केवल इतना ही पता चलता है कि उन्हें इसका भी कुछ परिचय अवश्य रहा होगा, इस प्रकार की सामग्री उन्हें सुरति शब्दयोग की साधना से पूर्णतः दक्ष सिद्ध करने के लिए अभी यथेष्ट नहीं कही जा सकती। इसके सिवाय उनकी सारी उपलब्ध रचनाओं पर विचार करने पर उन्हें एक सगुणोपासिका कहने की ही प्रवृत्ति होती है। उनका श्रीकृष्ण के रूप के प्रति प्रबल आकर्षण, उस अनुपम सौंदर्य का बार-बार वर्णन करना और अपने इष्टदेव को एक साकार एवं सजीव पति के रूप में मानकर, उसके विरह में अधीर होना उनके निर्गुणोपासिक होने में बाधा उपस्थित करते हैं। सच तो यह है कि मीराँबाई का लगाव, सम्भवतः, श्रीकृष्ण की एक मूर्ति विशेष के साथ आरम्भ हुआ था, उसके मूल रूप के प्रति वे क्रमशः अधिकाधिक आकृष्ट होती गईं, तीर्थाटन द्वारा उसकी अन्य मूर्तियों से भी परिचित हो जाने पर, उनकी भावना और भी व्यापक एवं परिष्कृत होती गई। अन्त में अवतारी श्रीकृष्ण को ब्रह्मस्वरूप तक मान लेने पर भी, वे एक मूर्ति में ही लीन हुईं।

मीराँबाई की भक्ति का स्वरूप उस 'प्रेमाभक्ति' के समान है जिसके व्यापक भाव के अन्तर्गत सभी साधनाओं का समन्वय-सा हो जाता है, जिसके पूर्णतः व्यक्तिगत वा आत्मगत होने के कारण किसी विधि-निषेध की आवश्यकता नहीं पड़ती और जिसमें 'तदर्पिताखिलाचारिता' वा 'तद्विस्मरणे परम व्याकुलता' अर्थात् सभी कुछ को अपने प्रेमपात्र के प्रति अर्पित कर देने तथा उसकी लेश-मात्र की भी स्मृति में अधीर एवं बेचैन हो जाने की दशा स्वभावतः उत्पन्न हो जाया करती है।

जायसी और प्रेमतत्त्व

[१]

सूफ़ी-प्रेमगाथाओं के रचयिता हिंदी-कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी अभी तक सर्वश्रेष्ठ गिने जाते आये हैं। परंतु, अन्य अनेक कवियों की ही भाँति, इनके विषय में भी अभी तक पूरी जानकारी नहीं हो सकी है। इन्होंने अपनी रचना 'पदुमावति' में बतलाया है कि इन्होंने उसे जायस में आकर लिखा था। किंतु उसके पहले ये कहाँ रहते थे जहाँ से जायस नगर आये इस बात की ओर कहीं पर कोई संकेत देते हुए ये नहीं जान पड़ते। जायस नगर को इन्होंने, उक्त रचना की उसी पंक्ति में 'धर्मस्थान' भी कहा हैं। फिर अपनी 'आख़िरी क़लाम' नामक रचना में इन्होंने जायस को अपना 'स्थान' भी कहा है और उसके आदि नाम 'उदयान' का उल्लेख करते हुए उसके पूर्व इतिहास का परिचय देने की भी चेष्टा की है। इस प्रकार जायस नगर के प्रति इनके आकर्षण एवं इनके नाम 'मलिक मुहम्मद' के आगे जुड़े हुए 'जायसी' शब्द से भी इनका उसके साथ कोई घनिष्ठ संबंध सूचित होता है। इनकी पंक्तियाँ ये हैं—

जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू॥

(पदुमावति)[1]

जायस नगर मोर अस्थानू। नगर क नांव आदि उदयानू॥

(आखिरी कलाम)[2]

जायसी ने अपनी 'पदुमावति' में उसके प्रारंभिक वक्तव्य के लिखने का समय हिजरी ६२७ दिया है जो वि० सं० १५७८ में पड़ता है। परंतु उस रचना के शेष अंश कब लिखे गए इस बात की चर्चा करते हुए ये नहीं जान पड़ते।

---

[1] **'जायसी ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा, द्वितीय संस्करण, सन् १६३६), पृष्ठ १०**

[2] **वही, पृष्ठ ३८७**

उसमें इन्होंने 'शाहेवक्त' के रूप में शेरशाह का नाम लेकर उसे तत्कालीन 'देहली सुलतानू' भी बतलाया है। ये वहाँ पर उसके प्रताप, शौर्य एवं दानशीलता की प्रशंसा भी करते हैं जिससे अनुमान किया जा सकता है कि उस रचना का निर्माण होते समय दिल्ली का बादशाह शेरशाह था। इतिहास से पता चलता है कि शेरशाह ने हुमायूँ को हरा कर वि० सं० १५९७ से लेकर सं० १६०२ तक राज्य किया था और यह काल उक्त सं० १५९८ से बहुत पीछे तक चला आता है जिससे कुछ संदेह होने लगता है। अतएव, कुछ लोगों ने अनुमान किया है कि 'पदुमावति' को प्रारंभिक बातें लिखकर इन्होंने पहले छोड़ दिया था और फिर उसे बहुत पीछे पूरा किया था। एक अन्य प्रकार की कल्पना यह भी की जाती है कि जायसी की पंक्ति में 'सन नव सै सत्ताइस अहा' नहीं, अपितु 'सन नव सै सैंतालिस अहा' होना चाहिए क्योंकि ऐसी दशा में हिजरी सन् ९४७ वह समय अर्थात् उक्त सं० १५९७ भी पड़ जाता है जब शेरशाह सूरी का राज्य-काल आरंभ हुआ था और उसके शौर्य एवं प्रतापादि के उदाहरण मिलने लग गए थे। किंतु इस बात पर विचार करते समय उक्त पंक्ति के पाठ-भेद का भी प्रश्न उठ खड़ा हो जाता है जिसका पूरा समाधान बिना किसी मूल प्रामाणिक प्रति के नहीं हो सकता है। 'सन नव सै सत्ताइस' के पक्ष में इतना और कहा जा सकता है कि सं० १७०७ के लगभग वर्त्तमान आलाओल नामक एक बंगला कवि ने भी, 'पदुमावति' का अनुवाद करते समय, इसी पाठ को ठीक माना था और उसने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि 'शेख मुहम्मद जति जखन रचिल ग्रंथ संख्या सप्तविंश नव शत' अर्थात् शेख़ मुहम्मद अथवा जायसी ने जिस समय 'पदुमावति' की रचना की थी उसके हिजरी सन् की संख्या 'सप्तविंशति नव सत' अर्थात् ९२७ है। 'पदुमावति' की उपर्युक्त पूरी पंक्तियाँ ये हैं—

सन नव सै सत्ताइस अहा। कथा अरंभ बैन कवि कहा॥[1]

× × × × ×

[1] **'जायसी ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा, द्वितीय संस्करण, सन् १९३९ ई०), पृष्ठ १०**

सेरसाहि देहली सुलतानू। चारिउ खंड तपै जस भानू॥
ओही छाज छात औ पाटा। सब राजै भुइँ धरा ललाटा॥
जाति सूर और खांड़े सूरा। औ बुधिवंत सबै गुन पूरा॥[1]

× × × × ×

सेरसाहि सरि पूज न कोऊ। समुद सुमेर भँडारी दोऊ॥[2]

इत्यादि।

जायसी ने अपनी रचना 'आखिरी क़लाम' का निर्माण-काल हि० सन् ९३६ दिया है जो वि० सं० १५८६ पड़ता है। उस समय बादशाह बाबर (शासन काल सं० १५८३-१५८७) का राज्य था और कवि ने उसके पराक्रम की भी चर्चा नामोल्लेख करके की है। इससे पता चलता है कि जायसी ने, 'पद्मावति' की रचना आरंभ करके छोड़ देने पर 'आखिरी क़लाम' लिखा था और पीछे फिर इन्होंने उस अधूरी पुस्तक को भी समाप्त किया था। इनकी उपर्युक्त पंक्ति 'जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू' के 'तहाँ आइ' से कुछ ऐसा संकेत मिलता है कि उसके पहले ये कहीं बाहर अवश्य गये होंगे। अतएव, संभव है कि इन्होंने 'आखिरी क़लाम' की रचना कहीं अन्यत्र की हो और, इसी कारण, उसके अंतर्गत 'मोर अस्थानू' अर्थात् 'मेरा निवास-स्थान जायस नगर है' कहकर अपना परिचय दे दिया हो तथा पीछे जायस लौटकर फिर 'पद्मावति' समाप्त की हो। 'पद्मावति' की रचना का अंत करते समय तक जायसी बहुत वृद्ध भी हो चले थे जिसका संकेत इन्होंने उसकी अंतिम पंक्तियों द्वारा स्वयं भी दे दिया है और वह बहुत स्पष्ट शब्दों में प्रकट है। परंतु 'आखिरी क़लाम' के अंतर्गत इन्होंने ऐसी कोई बात नहीं कही है, केवल अपने जन्म-समय के लगभग होने वाले 'भूकंप' आदि का ही उल्लेख किया है। जायसी इस प्रकार कहते हैं—

[1] **'जायसी ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा, द्वितीय संस्करण, सन् १९३९) ई० पृष्ठ ६**

[2] **वही, पृष्ठ ८**

नौसै बरस छतीस जो भए। तब एहि कथाक आखर कहे ॥[1]
× × × × ×
बाबर साह छत्रपति राजा। राजपाट उनकहँ विधि छाजा ॥[2]
(आख़िरी क़लाम)

मुहमद विरिध वैस जो भई। जोवन हुत सो अवस्था गई ॥
× × × × ×
विरिध जो सीस डोलावै, सीस धुनै तेहि रीस ॥
बूढ़ी आऊ होहु तुम्ह, केइ यह दीन्ह असीस ॥२॥[3]
(पदुमावति)

अपने जन्म समय आदि के विषय में लिखते हुए ये 'आख़िरी क़लाम' के अंतर्गत इस प्रकार कहते हैं—

भा औतार मोर नव सदी। तीस वरिस ऊपर कवि वदी ॥
आवत उधत चार विधि ठाना। भा भूकंप जगत अकुलाना ॥[4]
× × × × ×
जायस नगर मोर अस्थानू। नगरक नांव आदि उदयानू ॥
तहां दिवस दस पहुने आएउ। भा वैराग बहुत सुख पाएउं ॥[5]

अर्थात् मेरा जन्म नवीं शताब्दी में हुआ था और मैंने काव्य-रचना का आरंभ तीस वर्ष का हो जाने पर किया था। मेरे जन्म के समय उपद्रव हुआ था और एक ऐसा भूकंप आया था जिसके कारण संसार भयभीत हो गया था। मेरा स्थान

---

[1] 'जायसी ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा, द्वितीय संस्करण, सन् १६३५ ई०), पृष्ठ ३८८

[2] वही, पृष्ठ ३८६

[3] वही, पृष्ठ ३४२

[4] वही, पृष्ठ ३८४

[5] वही, पृष्ठ ३८७

जायस नाम का नगर है जिसका आदि नाम उदयान था। वहाँ पर मै कुछ काल के लिए एक अतिथि के रूप में आया और वैराग्य हो जाने पर मुझे बड़ा सुख मिला। यहाँ पर उपर्युक्त 'नव सदी' का अर्थ लोग हिजरी ९०० लगाते हैं और कहते हैं कि तदनुसार जायसी सन् १४९४ ई० = सं० १५५१ में उत्पन्न हुए थे। परंतु जहाँ तक पता चलता है 'सदी' एक अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ 'सौ वर्षों का समूह' अथवा 'शताब्दी' ही हुआ करता है और इस प्रकार 'नव-सदी' से भी अभिप्राय प्रचलित गणना पद्धति के अनुसार हि० सन् ९०० के अंत तक का समय होना चाहिए जो हि० सन् ८०० के अनंतर वहाँ तक समझा जायगा। डा० कुलश्रेष्ठ ने यहाँ पर 'नव' शब्द का अर्थ 'नवीन' बतलाकर जायसी के जन्म-काल को हि० सन् ९०६ में निश्चित करने का प्रयत्न किया है जिसे वे इस बात से भी प्रमाणित करना चाहते है कि 'आख़िरी कलाम' का रचना-काल इस विचार से जायसी के ३० वें वर्ष में पड़ेगा। परंतु यदि 'पदुमावति' का रचनाकाल हि० सन् ९२७ ही सिद्ध होता है तो उनका यह अनुमान असंगत कहलाएगा। 'तीस वरिस ऊपर कवि वदी' का स्वाभाविक अर्थ भी 'तीस वर्ष की अवस्था व्यतीत होने पर' ही हो सकता है। इसके सिवाय इस पंक्ति के लिखने का उद्देश्य केवल 'आख़िरी क़लाम' की ही रचना का समय प्रकट करना नहीं जान पड़ता। 'भा औतार मोर नव सदी। तीस वरिस ऊपर कवि वदी' वस्तुतः एक महत्त्वपूर्ण पंक्ति हे जिसका वास्तविक रहस्य कदाचित् कभी पीछे खुल सके।

जायसी ने अपनी रचना 'पदुमावति' में अपने चार दोस्तों के भी नाम लिये हैं और उनके नाम इन्होंने यूसुफ़ मलिक, सालार क़ादिम, सलोने मियाँ और बड़े शेख़ दिये हैं। ये चारो ही जायस नगर के रहने वाले बतलाये जाते हैं और इनमें से दो एक के वंशजों का भी अभी तक वहाँ वर्त्तमान रहना कहा जाता है। स्वयं जायसी के किसी वंशज का पता नहीं चलता। कहा जाता है कि इनके जो पुत्र थे वे किसी मकान से दबकर मर गए थे जिस घटना ने इन्हें और भी विरक्त बना दिया और ये अपने जीवन के अंतिम दिनों में गृहस्थी छोड़कर पूरे फ़क़ीर बन गए। यह भी प्रसिद्ध है कि कुछ दिनों तक फिर ये अमेठी से

कुछ दूरी पर वर्त्तमान एक जंगल में रहने लगे थे जहाँ पर इनका देहांत भी हो गया। इनकी मृत्यु का संवत् प्रायः १५६६ ठहराया जाता है जो 'रिज्जव सन् ६४६ हिजरी' के रूप में किसी काजी नसरुद्दीन हुसैन जायसी की 'यादद्राश्त' में दर्ज है और जो इसी कारण, बहुत कुछ प्रामाणिक भी समझा जा सकता है। कवि जायसी, अवस्था में, अत्यंत वृद्ध होकर मरे होंगे और यह संवत् इनके जन्म संवत् को १५५१ ही मान लेने पर, इनकी आयु का केवल ४८ वर्ष की ही होना सिद्ध कर देता है जो तथ्य के प्रतिकूल जाता प्रतीत होता है। अतएव, संभव है कि ये, 'नव सदी' के अनुसार वस्तुतः 'नवीं शताब्दी में अर्थात् हि० सन् ६०० के पहले अवश्य उत्पन्न हुए होंगे। इन्होंने अपनी काव्य-रचनाओं का आरंभ तीस वर्ष की अवस्था पार कर चुकने पर किया था और सं० १५६६ में इनका देहांत हुआ। इनकी रचनाओं की संख्या ५ से अधिक बतलायी जाती है और उनमें से 'पदुमावति' इनकी अंतिम रचना ठहरती है। इसकी समाप्ति के समय तक शेरशाह का राज्यकाल आरंभ हो चुका था और ये अपनी वृद्धावस्था के कारण 'मीचु' अर्थात् मृत्यु तक की चिंता करने लग गए थे।[१]

मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने 'पीर' के संबंध में लिखते हुए कहा है—

सैयद असरफ़ पीर पियारा। जेहि मोहि पंथ दीन्ह उजियारा॥
लेसा हिये प्रेमकर दीया। उठी जोति भा निरमल हीया॥[२]
—(पदुमावति)

तथा,

मानिक एक पाएंउ उजियारा। सैयद असरफ़ पीर पियारा॥
जहाँगीर भिश्ती निरमरा। कुल जगमहँ दीपक विधि धरा॥[३]
—(आखिरी क़लाम)

[१] 'जायसी ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा, द्वितीय संस्करण, सन् १६३५ ई०) पृष्ठ ३४२

[२] वही, पृष्ठ ८

[३] वही, पृष्ठ ३८६

और इन पंक्तियों से पता चलता है कि इन्होंने सैयद अशरफ़ नामक पीर वा सूफ़ी फ़क़ीर के ज्ञान प्रकाश में अथवा उसके द्वारा प्रकाशित उसके किसी वंशज द्वारा दीक्षा ली थी और ये इस प्रकार, चिश्ती संप्रदाय के अनुयायी थे। किंतु कुछ अन्य पंक्तियों के आधार पर यह भी अनुमान किया जा सकता है कि ये मुहीउद्दीन नामक किसी अन्य सूफ़ी के भी मुरीद रह चुके होंगे। जैसे,

गुरु मोहदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जेहिकर खेवा ॥[1]

—(पदुमावति)।

तथा,

पा पाएउं गुरु मोहिदी मीठा। मिला पंथ सो दरसन दीठा ॥[2]

—(अखरावट)।

इन दोनों सूफ़ी पीरों में से सैयद अशरफ़ संभवतः जायस के ही निवासी थे और जायसी उनके वंशज शाह मुबारक बोदले के मुरीद थे। मुहीउद्दीन कालपी के रहने वाले थे। अतएव हो सकता है कि ये पहले पहल सैयद अशरफ़ के 'कुल' में दीक्षित हुए हों और पीछे कालपी जाकर शेख मुहीउद्दीन के सत्संग में भी कुछ काल तक रहे हों। इस दूसरे पीर की जायसी ने कुछ विस्तृत गुरु परंपरा भी लिखी है जिसके आधार पर ये प्रसिद्ध चिश्ती निज़ामुद्दीन औलिया के वंशज ठहरते हैं। निज़ामुद्दीन औलिया (सं० १२९५-१३८१) ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (सं० ११९९-१२९३) के प्रशिष्य बाबा फरीद 'शंकर गंज' (सं० १२३०-१३२५) के प्रधान शिष्य थे और अमीर खुसरो (सं० १३१२-१३८१) के गुरु भी थे। इस प्रकार, जायसी का संबंध अति प्रसिद्ध सूफ़ी घराने के साथ रह चुका था।

जायसी के समय तक सूफ़ी प्रेम-गाथाओं का पूर्ण विकास नहीं हो पाया था और वैसे काव्य के आदर्श अभी इने गिने ही थे। जायसी ने उस परंपरा

---

[1] **'जायसी ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा, द्वितीय संस्करण सन् १९३९ ई०), पृष्ठ ९**

[2] **वही, पृष्ठ ३६४**

के लिए 'पदुमावति' के रूप में एक सुंदर भेंट प्रस्तुत कर दी और आगे आने वाले वैसे कवियों के आदर्श बन गए। जायसी की 'पदुमावति' का कथानक शुद्ध भारतीय पात्रों को लेकर भारतीय वातावरण में ही विकसित होता है। इसके घटना-क्षेत्र, अलौकिक पात्रों के क्रिया-कलाप, नायक-नायिका के आमोद-प्रमोद वा विरह-संताप आदि संबंधी सारी बातें भारतीय हैं। यहाँ तक कि सिंहलद्वीप तक में भी जो कुछ घटित होता है वह भी भारतीय आदर्शों के प्रतिकूल जाता नहीं जान पड़ता। किंतु जायसी ने उसका ढाँचा भारतीय खड़ा करके भी उसके भीतर प्रधानतः सूफ़ी प्रेम-पद्धति का ही मार्ग प्रचलित किया है।

[२]

जायसी की रचना 'पदुमावति' की प्रेम-गाथा द्वारा अथवा उनके ग्रंथ 'अखरावट' में वर्णन किए गए सिद्धांतों द्वारा जिस प्रेमतत्त्व का परिचय मिलता है वह वास्तव में बहुत ही उच्च एवं गंभीर है। उस के महत्त्व का पता हमें पहले-पहल उस समय चलता है जब हीरामन तोता द्वारा पद्मावती के रूप एवं गुण का संक्षिप्तमात्र समाचार पाते ही, राजा रतनसेन उसके प्रेम में पड़कर कह उठता है—

तीनि लोक चौदह खँड, सबै परै मोहि सूझि।
प्रेम छाँड़ि नहिं लोन किछु, जो देखा मन बूझि॥[1]

अर्थात् अब मुझे तीनों लोक और चौदहों भुवन प्रत्यक्ष हो गए और मैंने अपने मन में समझ-बूझ कर देख लिया कि वास्तव में प्रेम के समान कोई भी वस्तु सुंदर नहीं हो सकती। अभिप्राय यह है कि संसार की किसी भी वस्तु में ऐसी सुंदरता नहीं मिल सकती जो प्रत्येक स्थिति अथवा दशा में भी एक समान होकर वर्त्तमान रहे। यह प्रेम की ही विशेषता है,

मुहम्मद बाजी प्रेम कै, ज्यों भावै त्यों खेल।
तिल फूलहिं के संग ज्यों, होइ फुलायल तेल॥[2]

अर्थात् प्रेम की बाज़ी किसी प्रकार भी खेली जाय उस में लाभ ही लाभ है जैसे

---

[1] **'जायसी-ग्रंथावली' (काशी नागरी प्रचारिणी सभा), पृष्ठ ४६**
[2] **वही, पृष्ठ २६**

तिल के दाने, फूलों के सहवास के उपलक्ष में यदि पेरे भी जाते हैं तो अंत में उनका रूप सुगंधित तेल बन कर ही प्रकट होता है। प्रेम के कारण अथवा प्रेम का परिणामस्वरूप दुख हो ही नहीं सकता। इसका तो नियम ही है—

प्रेम कै आगि जरै जौं कोई।
दुख तेहि कर न अँबिरथा होई॥[1]

अर्थात् प्रेम की ज्वाला में अपने को भस्मसात् कर देने वाले का दुःख कभी व्यर्थ नहीं जाता। उसके दुःखों के साथ ही साथ सुख भी लगा ही रहता है जिस कारण उसके आनंद में बाधा नहीं पड़ पाती और—

दुख भीतर जो प्रेम-मधु राखा।
जग नहिं मरन सहै जो चाखा॥[2]

अर्थात् प्रेम की पीर के साथ ही जो माधुर्य अनुभव में आता है उसका स्वाद इतना तीव्र होता है कि उसके सामने संसार में मरण तक का कष्ट हँसते-खेलते सह लेना कोई असंभव बात नहीं। इस कारण प्रेम नितांत रूप से सदा एक-समान समझा जाता है और इसकी एकरसता ही इसके वास्तविक सौंदर्य का कारण है। इस अनुपम गुण के ही संयोग से—

मानुष प्रेम भएउ बैकुंठी।
नाहिंत काह छार भर मूठी॥[3]

अर्थात् इस प्रेम के ही कारण मनुष्य अमरत्व तक प्राप्त कर लेता है, नहीं तो इस 'मूठी' भर छार मात्र से बने हुए मिट्टी के पुतले से हो ही क्या सकता था? अतएव कवि को इस बात पर पूर्ण विश्वास है—

प्रेम-पंथ जौं पहुँचे पारा।
बहुरि न मिलै आइ एहि छारा॥[4]

---

[1] 'जायसी-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० स०), पृष्ठ ७३

[2] वही, पृष्ठ ४६

[3] वही, पृष्ठ ८०;

[4] वही, पृष्ठ ७०

अर्थात् जो मनुष्य प्रेम-मार्ग का पथिक होकर पार पहुँच गया वह फिर मिट्टी में ही मिलने के लिए इस क्षणभंगुर शरीर को धारण कर नहीं सकता। वह अमर हो जाता है।

परंतु प्रेम जितना ही सुंदर और मनोहर है उतना ही उसका मार्ग विकट और दुर्गम है। क्योंकि इस पर चलने वाले के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने साधन की सरलता अथवा कठिनता को अपने विचार से एकदम निकाल दे और ऐसा करने के कारण प्रायः देखा गया है कि उसके मार्ग का ढंग ही विचित्र हो जाता है। वह जितना ही उलटे रास्ते से चले और जितना ही कष्ट झेले उतना ही अपने को, उद्देश्य की पूर्त्ति करता हुआ, पाता है। इसीलिए कवि का कहना है—

उलटा पंथ प्रेम के बारा।
चढ़ै सरग जो परे पतारा॥[1]

अर्थात् प्रेम का मार्ग ही विपरीत है क्योंकि इसके द्वारा स्वर्ग पर जाने के अधिकारी वही बन सकते हैं जिन्होंने पहले अपने को पाताल में डाल दिया हो। इसका अनुसरण करने के प्रथम ही यह समझ लेना आवश्यक है कि अब हमें अपने दुःख-सुख की कोई परवा नहीं करना है। सिंहल-द्वीप जाते समय मार्ग में पड़ने वाले विस्तृत समुद्र को पार करने की कठिनाइयों का ब्यौरा, केवट द्वारा, सुन कर, प्रेमी राजा रतनसेन इसीलिए सहसा कह उठता है—

राजै कहा कीन्ह मैं प्रेमा।
जहाँ प्रेम कहँ कूसल खेमा॥[2]

अर्थात् जब मैंने प्रेम-मार्ग ग्रहण कर लिया तो अब कुशल-क्षेम के लिए किसी प्रकार की आशा करना ही व्यर्थ है। क्योंकि नियमानुसार प्रेम के रहते कुशल क्षेम का होना असंभव सी बात है। प्रेम करनेवाले को दुख झेलना ही पड़ेगा।

[1] 'जायसी-ग्रंथावली', (का० ना० प्र० सभा), पृष्ठ ११२

[2] वही, पृष्ठ ७१

कवि ने इस बात को स्पष्ट करते हुए कई स्थलों पर बहुत से उदाहरण भी दिए हैं। जैसे—

प्रेम-फाँद जो परा न छूटा।
जीउ दीन्ह पै फाँद न टूटा॥
गिरगिट छंद धरै दुख तेता,
खन खन पीत रात खन सेता॥
जान पुछार जो या बनवासी।
रोंव रोंव परे फँद नगवासी॥
पाँखन्ह फिरि फिरि परा सो फाँदू।
उड़ि न सकै अरुझा भा बाँदू॥
'मुयों मुयों' अहनिसि चिल्लाई।
ओही रोस नागन्ह धै खाई॥
पंडुक, सुआ, कंक वह चीन्हा।
जेहि गिउ परा चाहि जिउ दीन्हा॥
तीतिर-गिउ जो फाँद है, नित्ति पुकारै दोख।
सो कित हँकारि फाँद गिउ (मेलै) कित मारे होइ मोख॥[1]
जानहि भौंर जो तेहि पथ लूटे।
जीउ दीन्ह औ दिएहु न छूटे॥

अथवा,

ओहि पथ जाइ जो होइ उदासी।
जोगी, जती, तथा सन्यासी॥
भोग किए जौं पावत भोगू।
तजि सो भोग कोई करत न जोगू॥
साधन्ह सिद्धि न पाइऐ, जौ लगि सधै न तप्प।
सोपै जाने बापुरा, करै जो सीस कलप्प॥

[1] 'जायसी-ग्रंथावली,' (का॰ ना॰ प्र॰ स॰), पृष्ठ ४६

का भा जोग-कथनि के कथे।
निकसै घिउ न बिना दधि मथे ॥
जौ लहि आप हेराइ न कोई।
तौ लहि हेरत पाव न सोई ॥
प्रेम पहार कठिन विधि गढ़ा।
सो पै चढ़ै जो सिर सौं चढ़ा ॥
पंथ सूरि कर उठा अँकूरू।
चोर चढ़ै की चढ़ मंसूरू ॥[१]

और,

ना जेइ भएउ भौंर कर रंगू।
ना जेइ दीपक भएउ पतंगू ॥
ना जेइ करा भृंग कै होई।
ना जेइ आपु मरै जिउ खोई ॥
ना जेइ प्रेम औटि एक भएऊ।
ना जेहि हिये माँझ डर गएऊ ॥

तेहि का कहिय रहब जिउ, रहै जो पीतम लागि।
जौं वह सुनै लेइ धँसि, का पानी का आगि ॥[२]

अर्थात् प्रेम के फंदे में जो पड़ गया वह कभी नहीं छूटता। प्राण दे देने पर भी उसके फंदे का टूट जाना कठिन है। गिरगिट को अनेक कष्ट झेल कर भी क्षण-क्षण पर पीले, लाल अथवा श्वेत रंग का होना पड़ता है। मोर को वन में रहकर अपना रोम-रोम नागपाश में डालना पड़ता है, जिसके कारण उसके पंख पर फंदे के चिह्न तक पड़ जाते हैं और वह बंदी होकर उड़ने में असमर्थ हो जाता है, वह रात-दिन "मुयों" "मुयों" कह कर चिल्लाया करता है और क्रोध में आकर दौड़-दौड़ कर साँपों को खाता फिरता है। इस फंदे का चिह्न, इसी

---

१ 'जायसी-ग्रंथावली', (का० ना० प्र० स०), पृष्ठ ४८

२ वही, पृष्ठ ११२

प्रकार, पंडुक तोते और नीलकंठ पक्षियों के भी गले में पड़ा दीखता है जिसके कारण उन्हें प्राण तक निछावर करने पड़ते हैं और तीतर के गले पर दीखने वाला चिह्न इतना अशुभ-सूचक है कि या तो उसके द्वारा इसे बंधन स्वीकार करना पड़ता है अथवा मुक्त होने पर भी लड़कर मरना पड़ता है अर्थात् इसे कहीं भी शांति नहीं मिलती। फिर भ्रमर तो इस मार्ग का पथिक होकर एक दम लुट ही जाता है, उसे प्राणों की आहुति देने पर भी छुटकारा नहीं मिलता। इसीलिए इस मार्ग का अनुसरण भरसक उसीको करना चाहिए जो उदासी, योगी, यती, तपस्वी अथवा संन्यासी हो। क्योंकि भोग-विलास में पड़े हुए को ही यदि यहाँ सफलता मिल सकती तो ये लोग भोगों का त्याग कर कठिन व्रत की साधना करने पर आरूढ़ नहीं होते। प्रेम-प्राप्ति की सिद्धि केवल साध करने मात्र से नहीं हो सकती इसके साथ-साथ तप की साधना भी आवश्यक है। इसे वही अनुभव कर पाता है जो अपने शीश को पहले धड़ से अलग कर डालता है। केवल कथनी कथने से कुछ नहीं होता। घी निकालने के लिए दही को पहले भलीभाँति मथने की आवश्यकता पड़ती है। जब तक अपने आप को भी, ढूँढ़ते-ढूँढ़ते कोई न खो दे तब तक उसे पा ही नहीं सकता। प्रेम-पहाड़ की रचना ही कुछ ऐसी अनोखी है कि उस पर चढ़नेवाले को पैरों द्वारा न चलकर सिर के बल जाना पड़ता है। यह वास्तव में, सूली का मार्ग है जिस पर या तो चोर चढ़ाया जाता है अथवा मंसूर ऐसे मनुष्य का बलिदान होता है। बात यह है कि जिसने भ्रमर का रंग धारण नहीं किया, जो दीपक देख कर पतङ्ग नहीं बन गया, जिस पर भृङ्ग का प्रभाव नहीं पड़ा अथवा जिसने अपने प्राणों का उत्सर्ग नहीं कर दिया और न जो प्रेम के कारण तपाया जाकर एक हो गया अथवा जिसके हृदय से भय का लोप न हुआ उसे प्रियतम के प्रति सच्चा अनुराग हो ही नहीं सकता और न वह उसके लिए आग या पानी में पड़ सकता है।

प्रेमी की अवस्था ही विचित्र हो जाती है। प्रेम के प्रभाव द्वारा अभिभूत होकर उस की मनोवृत्ति इस प्रकार बदल जाती है कि उसे हित-अनहित की बातों की पहचान तक नहीं रह जाती और वह—

उपजी प्रेम-पीर जेहि आई ,
परबोधक होइ अधिक सो आई ।
अमृत बात कहत विष जाना ,
प्रेमक वचन मीठ कै माना ।[1]

अर्थात् जिस के हृदय में प्रेम की कसक बैठ गई उसे यदि समझाया-बुझाया जाय तो उस पर प्रभाव उलटा ही पड़ा करता है और पीड़ा कम होने की जगह बढ़ने लगती है। प्रेमावेश में उसे भली से भली बात बुरी जान पड़ती है और वह केवल प्रेमसंबंधी वार्त्तालाप को ही अपने अनुकूल समझा करता है। वह अपने शरीर तक की रक्षा के विचार से इस प्रकार उदासीन हो जाता है कि उसे किसी बात की परवा ही नहीं रहती। क्योंकि—

जेहि के हिये प्रेम-रंग जामा ।
का तेहि भूख नींद बिसरामा ॥[2]

अर्थात् जिस के हृदय में प्रेम ने रंग जमा लिया उस के लिए भूख, निद्रा अथवा विश्राम का आना असंभव है। उसे शांति मिल ही नहीं सकती। उस की मानसिक स्थिति का वर्णन करता हुआ स्वयं राजा रतनसेन पद्मावती से कहता है—

सुनु, धनि ! प्रेम सुरा के पिए ।
मरन जियन डर रहै न हिए ॥
जेहि मद तेहि कहाँ संसारा ।
की सो घूमि रह की मतवारा ॥
सो पै जान पियै जो कोई ।
पी न अघाइ जाइ परि सोई ॥
जा कहँ होइ बार एक लाहा ।
रहै न ओहि बिनु ओही चाहा ॥

---

[1] 'जायसी-ग्रंथावली', (का० ना० प्र० सभा), पृष्ठ ५८

[2] वही, पृष्ठ ६६

अरथ दरब सो देइ बहाई।
की सब जाहु, न जाइ पियाई॥
रातिहु दिवस रहै रस-भीजा।
लाभ न देख न देखै छीजा॥[1]

अर्थात् हे प्यारी, प्रेम वास्तव में, मदिरा के समान है जिस का पान करते ही जीवन-मरण तक का भय एकदम जाता रहता है। जिसने एक बार भी इसे पी लिया उसके लिए यह संसार कुछ भी नहीं है और वह मद के कारण मतवाला होकर डोलता फिरता है। इस की मादकता का प्रभाव वही जानता है जो इसे पीता है और पीकर तृप्त होना नहीं जानता बल्कि पीते-पीते निद्रा में मग्न हो जाता है। जिसे एक बार भी इसकी प्राप्ति हो गई वह इसके बिना रह ही नहीं सकता और सदा इसके लिए अधीर हुआ फिरता है। अपनी सारी संपत्ति को तिलांजलि देकर मानो वह मन में ठान लेता है कि चाहे सब कुछ चला जाय किंतु मैं इस रस का आस्वादन नहीं छोड़ सकता। अतएव रात-दिन वह इसी रस में अपने को भिगोये रहा करता है और अपने लाभ अथवा हानि की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता। प्रेमी अपने को, एक प्रकार से एकदम खोकर, अपना अस्तित्व ही नष्ट कर देता है जिसे स्पष्ट करते हुए जायसी ने राजा रतन-सेन की अवस्था का चित्र इस प्रकार खींचा है—

बूँद समुद्र जैस होइ मेरा।
गा हेराइ अस मिलै न हेरा॥
रंगहि पान मिला जस होई।
आपहि खोइ रहा होइ सोई॥[2]

अर्थात् जिस प्रकार बूँद का समुद्र में मिलन हो जाय और वह ढूँढने पर भी न मिल सके अथवा जिस प्रकार पान का पत्ता रंगों में मिलकर अपना अस्तित्व खो बैठे उसी भाँति राजा ने अपने को खोकर प्रेम में मिला दिया और प्रेमी

---

[1] 'जायसी-ग्रंथावली', (का० ना० प्र० स०), पृष्ठ १६१

[2] वही, पृष्ठ ११४

एवं प्रेम-पात्र मानो दो से एक हो गए। प्रेम-प्रभाव का इससे उत्कृष्ट उदाहरण और क्या हो सकता है ?

[३]

जायसी के अनुसार, इस प्रकार, प्रेम एक नित्य, सुंदर, एकरस एवं एकांतिक आनंदप्रद पदार्थ है जिसके उपलक्ष में प्रेमी को भाँति-भाँति के कष्ट झेलने पड़ते हैं। यदि अवसर आ जाय तो, इसके लिए, अपने प्राणों तक की आहुति देना अनिवार्य हो जाता है। प्रेम की मनोवृत्ति इतनी प्रबल है कि वह सदा एकभाव बनी रहने के लिए प्रेमी को बाध्य किए रहती है, जिससे उसका सारा जीवन ही एकोन्मुख एवं एकनिष्ठ हो जाता है और वह दूसरे किसी काम का नहीं रह जाता है। वह अपने को अपने प्रेम-पात्र के हाथ सदा के लिए बेच-सा देता है, जिस कारण उसके छोटे-बड़े सभी काम इस एक ही निमित्त से किये गए जान पड़ते हैं। वह प्रेम से भिन्न किसी दूसरी बात की ओर जा ही नहीं सकता। वह रात-दिन प्रेम के नशे में चूर अथवा प्रेम के आनंद में विभोर हुआ रहता है और उसे अपनी सुध तक नहीं रह जाती। प्रेम का प्याला एक बार होटों लगते ही प्रेमी का मानो कायापलट-सा हो जाता है और वह एकाएक अपनी वर्त्तमान अवस्था का परित्याग कर एक विचित्र जगत् में प्रवेश करता है, जहाँ की सारी वस्तुओं के उसके मानसिक रंग में ही रंजित होने के कारण, अपने अभीष्ट मनोराज्य का स्थापित करना उसके लिए सुलभ प्रतीत होने लगता है। वह अपने उद्देश्य की पूर्ति के साधन में सहसा आत्म-समर्पण कर बैठता है। अतएव उसके सभी कार्य, श्वास-प्रश्वास अथवा जीवन-मरण तक इसीके हेतु निश्चित हो जाते हैं। इस प्रभाव द्वारा पूर्णतः अभिभूत होने के कारण वह इसके मार्ग की बाधाओं को एकदम तुच्छ गिनने लगता है।

प्रेम की मनोवृत्ति के अंतर्गत, जायसी के अनुसार, किसी पदार्थ के आत्मसात् करने की अभिलाषा अथवा चाह का होना परमावश्यक है। इस बात को उन्होंने हीरामन तोता द्वारा पद्मावती का रूप-वर्णन करवाकर राजा रतनसेन के हृदय में तथा राजा रतनसेन के प्रेम एवं प्रयत्न की कथा कहला कर पद्मावती

के मन में एक दूसरे को देखने के लिए तीव्र उत्कंठा की उत्पत्ति द्वारा स्पष्ट किया है। यह दर्शन की लालसा, उसी प्रकार, राघवचेतन द्वारा पद्मावती की प्रशंसा सुनने के उपरांत बादशाह अलाउद्दीन के हृदय में उत्पन्न हुई चाह के समान नहीं है। क्योंकि जिस वस्तु को अपनाने के लिए राजा रतनसेन उत्सुक होता है वह उसके लिए वास्तव में एक अपनी ही चीज़ है जो दुर्भाग्यवश 'सात समुंदर पार' पड़ गई है और जिसकी सूचना उसके लिए, एक बार फिर से स्मरण करा देने का ही काम करती है, उसका कोई नवीन परिचय नहीं देती। परंतु अलाउद्दीन की अभीष्ट वस्तु एक दूसरे राजा की अपनी विवाहिता पत्नी है, जिसका वर्णन सुनकर वह एक प्रकार की कामवासना की तृप्ति के निमित्त एकाएक अधीर हो जाता है। अलाउद्दीन की चाह उसकी भोग-लिप्सा से रंजित होने के कारण वास्तविक प्रेम के महत्त्व को नहीं पहुँचती। किंतु राजा रतनसेन की अभिलाषा का आधार, कोई रहस्यपूर्ण पूर्व-संबंध होने के कारण, उसकी दर्शनोत्कंठा का रूप आरंभ से ही विरह-रंजित-सा दीख पड़ता है, जिसके कारण हम राजा रतनसेन के पूर्वानुराग को ही पूर्ण वियोग में परिणत पाते हैं।

उक्त रहस्यपूर्ण पूर्व संबंध का परिचय जायसी ने स्पष्ट शब्दों में कहीं नहीं दिया है, जिस कारण, सच्चे एकनिष्ठ प्रेम के लिए पहले किसी एक निर्दिष्ट भावना का होना परमावश्यक मानकर, उसके अभाव में, राजा रतनसेन का केवल रूपवर्णन सुनते ही विरह के वशीभूत हो जाना अनुपयुक्त एवं नकली तक समझा गया है।[1] परंतु, वास्तव में, ऐसा समझना ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि पहले तो जायसी ने अपनी प्रेम-गाथा की रचना प्रधानतः भारतीय पद्धति के ही अनुसार की है और प्रायः सारी सामग्री तक भारतीय भांडार से ही लिया है, जिस कारण उनके मुस्लिम धर्मावलंबी होते हुए भी इस रचना में हिंदुओं के जन्मांतरवाद की छाया का पड़ना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। दूसरे जिस प्रेम-तत्त्व को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने इस रचना का आरंभ किया था वह मूलतः ईश्वरोन्मुख प्रेम है जो सारे ब्रह्मांड के मूलाधार जगन्नियंता

[1] 'जायसी-ग्रंथावली', (का० ना० प्र० सभा), भूमिका-भाग, पृष्ठ ४३

परमेश्वर के प्रति उद्दिष्ट होने के कारण 'धरम क प्रीति' बनकर सबके हृदय में एक समान ही आविर्भूत हो सकता है। इसमें, सूफ़ी-संप्रदायवालों के सिद्धांतानुसार परमात्मा से बिछुड़ी हुई जीवात्मा की विरह-व्यथा का आरंभ से ही वर्त्तमान रहना अनिवार्य-सा है। जायसी ने इन दोनों कारणों के संकेत अपने ग्रंथ 'पदमावति' में दिए हैं किंतु, उनके उद्देश्यानुसार, प्रधानता दूसरे को ही मिली है। अतएव प्रेम-तत्व विषयक जायसी की विशिष्ट भावना को ध्यान में रखते हुए उनके कथा-वर्णन के किसी अंश को सहसा अस्वाभाविक बतला देना भ्रम-रहित नहीं कहा जा सकता।

उक्त पूर्व संबंध की ओर संकेत करते समय जायसी ने राजा रतनसेन के निमित्त पद्मावती का पूर्वनिश्चित संबंध तथा पद्मावती के लिए राजा रतन-सेन का पूर्वनिश्चित संबंध, इन दोनों बातों, के विषय में उल्लेख किया है। राजा रतनसेन के बचपन में ही उसकी सामुद्रिक रेखाओं को देखकर पंडित कह देता है—

रतनसेन यह कुल निरमरा।
रतनजोति मनि माथे परा॥
पदुम पदारथ लिखी सो जोरी।
चाँद सुरुज जस होइ अँजोरी॥[1]

अर्थात् यह रतनसेन अपने कुल को उच्च बनानेवाला है, इसके मस्तक पर एक विशेष ज्योतिस्वरूप चिह्न दिखलाई देता है। इस कारण इसकी जोड़ी के लिए पद्मपदार्थ (पद्मावती) निश्चित है और इन दोनों का संयोग सूर्य-चंद्रमा के संयोग के समान उजियाला कर देगा। इसी प्रकार पद्मावती का 'सपन-विचारू' बतलाती हुई उसकी सखी कहती है—

पच्छिउं खंड कर राजा कोई।
सो आवा वर तुम्ह कहं होई॥

---

[1] **'जायसी-ग्रंथावली' (का० ना प्र० सभा), पृष्ठ ३४**

चाँद सुरुज सौं होइ बियाहू।
बारि बिधंसब बेधब राहू॥
जस ऊषा कहं अनिरुध मिला।
मेटि न जाइ लिखा पुरबिला॥[1]

अर्थात् तुम्हारे स्वप्न का हाल जानकर यह प्रतीत होता है कि पश्चिम देश का कोई राजा आया है, वही तुम्हारा वर होनेवाला है। तभी सूर्य और चंद्रमा का मिलन होगा और सारी विघ्न-बाधाएँ नष्ट हो जायँगी। यह संयोग भी उसी प्रकार पूर्वलिखित और अवश्यंभावी है जिस प्रकार प्रसिद्ध ऊषा-अनिरुद्ध का समागम था। यह किसी भी प्रकार मिटाए मिट नहीं सकता। इन बातों से स्पष्ट जान पड़ता है कि कवि, यहाँ पर राजा रतनसेन एवं पद्मावती के पारस्परिक प्रेम का कारण उनके पूर्वविधानविहित नियमों अथवा पूर्व-संस्कारों के ही अंतर्गत निर्दिष्ट करने का प्रयत्न कर रहा है।

इसी प्रकार, प्रेम द्वारा अभिभूत राजा रतनसेन के हृदय में ढाढ़स उत्पन्न कर, उसे विचलित होने से बचाने के लिए, जो बातें सिंहलद्वीप के देव-मंडप में 'सबद अकृत' अथवा आकाशवाणी द्वारा, कहलाई गई हैं उनसे भी पता चल जाता है कि कवि के विरह-संबंधी क्या विचार हैं तथा प्रेम और विरह के वास्तविक रहस्य का उद्घाटन वह किस प्रकार करता है। जैसे—

प्रेमहि माँह बिरह रस रसा।
मैन के घर मधु अमृत बसा॥[2]

अर्थात् जिस प्रकार मोम के घर अथवा मधुकोश में अमृतरूपी मधु संचित रहा करता है उसी प्रकार प्रेम के अंतर्गत विरह भी निवास करता है। विरह को सदा सच्चे प्रेम के भीतर निहित समझना चाहिए क्योंकि, कवि के अनुसार, वास्तव में विरह ही वह मूल पदार्थ है जिस में अमरत्व का गुण वर्त्तमान है और जिस के लिए प्रेम का आविर्भाव हुआ करता है। दूसरे शब्दों में प्रेम का अस्तित्व

[1] **'जायसी-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृष्ठ १७**

[2] **वही, पृष्ठ ८०**

यदि है तो, वह विरह के ही कारण है क्योंकि वही प्रेम का सार है। अतएव, 'धरम क प्रीति' अर्थात् सच्चे प्रेम की उत्पत्ति के साथ ही विरह का भी जाग्रत होना कोई आश्चर्य की बात नहीं और न, इसीलिए, 'रूप वर्णन सुनते ही रतनसेन के प्रेम का जो प्रबल और अदम्य स्वरूप दिखाया गया है'[1] वह अनुपयुक्त ठहराया जा सकता है। कवि का उद्देश्य 'पद्मावति' में राजा रतनसेन अथवा पद्मावती को, वस्तुतः, साहित्यिक नायक अथवा नायिका के रूप में चित्रित करने का नहीं था, इसलिए पूर्वानुराग में भी पूर्ण विरह के लक्षणों का अनुभव कर दोषारोपण करना ठीक नहीं।

जायसी ने अपने निर्दिष्ट प्रेम-मार्ग को इस विरह के ही कारण अत्यंत विकट एवं दुर्गम भी बतलाया है। क्योंकि विरह, इनके अनुसार, संसार की सभी कठोर वस्तुओं से भी कठोर एवं क्रूरतापूर्ण है। विरह को वे एक प्रकार की प्रचंड ज्वाला के समान बतलाते हैं और कहते हैं—

जग महँ कठिन खड़ग कै धारा।
तेहि तें अधिक विरह कै झारा॥[2]

अर्थात् संसार में सबसे कठिन वस्तु तलवार की धार हुआ करती है किंतु विरह की ज्वाला उससे भी कहीं अधिक प्रबल और कष्टदायक सिद्ध होती है। इन दोनों में कोई समानता ही नहीं।

बिरहा कठिन काल कै कला।
बिरह न सहै काल बरु भला॥
काल काढ़ि जिउ लेइ सिधारा।
बिरह-काल मारे पर मारा॥
बिरह आगि पर मेलै आगी।
बिरह घाव पर घाव बजागी॥

---

[1] 'जायसी-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० स०), (भूमिका भाग) पृष्ठ ४३

[2] वही, पृष्ठ ७३

बिरह बान पर बान पसारा।
बिरह रोग पर रोग सँचारा॥
बिरह साल पर साल नवेला।
बिरह काल पर काल दुहेला॥[1]

अर्थात् विरह क्रूर काल का ही रूप है तब भी काल का आक्रमण सहा जा सकता है, परंतु विरह नहीं सहा जाता। इसका कारण यह है कि काल तो केवल प्राणों को ही लेकर चला जाता है, किंतु विरह मरे हुए को भी मारने पर उद्यत रहा करता है। यह आग पर अधिक आग डाल देता है, घावों पर घाव पैदा करता है, बाण पर बाणों की बौछार किया करता है, रोग पर नए रोग बढ़ाता है, कसक के अंदर कसक चुभाता रहता है, जिस कारण इसका प्रभाव काल से भी ऊपर काल के आक्रमण के समान है। विरह के बराबर मनुष्य के लिए, कोई भी वस्तु असह्य नहीं।

परंतु, जायसी के अनुसार, उपर्युक्त विरह-तत्त्व की व्यापकता केवल मानव जाति तक ही सीमित नहीं समझी जा सकती। यह विरह ब्रह्माण्ड के अन्य अंशों तक भी अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। यह एक वज्राग्नि है और—

विरह के आगि सूर जरि कोंपा।
रातिहि दिवस जरै ओहि तापा॥
खिनहि सरग खिन जाइ पतारा।
थिर न रहै एहि आगि अपारा॥[2]

अर्थात् विरहाग्नि की ज्वाला के ही प्रभाव में आकर स्वयं सूर्य तक रात-दिन जलता और काँपता रहता है। एक क्षण के लिए भी वह स्थिर नहीं रहता बल्कि कभी स्वर्ग और कभी पाताल की ओर उस का आना-जाना लगा रहा करता है। जायसी ने कहीं-कहीं प्राकृतिक वस्तुओं को विरही रतनसेन के व्यथित हृदय, नागमती के अश्रु-बिंदु अथवा विरह-पत्रादि के द्वारा भी प्रभावित होना

---

[1] **'जायसी-ग्रंथावली (का० ना० प्र० सभा), पृष्ठ १२१**

[2] **वही, पृष्ठ ८८**

दिखलाया है। इस कारण किसी-किसी ने केवल इतना ही समझा है कि उनका अभिप्राय इस "हृदयहारिणी और व्यापकत्व-विधायिनी पद्धति" द्वारा "बाह्य प्रकृति को मूल आभ्यंतर जगत् का प्रतिबिंब-सा[१]" दिखाना मात्र था। किंतु ऐसा समझना उचित नहीं जान पड़ता क्योंकि उपर्युक्त अवतरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कवि को ब्रह्मांड की वस्तुएं, वास्तव में, अपने मूल-कारण परमात्मा से बिछुड़ी हुई होने के कारण, स्वयं भी विरह-व्यथित-सी समझ पड़ रही हैं। जायसी की इस समझ का स्पष्टीकरण गोस्वामी तुलसीदास की निम्न-लिखित पंक्तियों से भी किया जा सकता है। जैसे—

बिछुरे ससि रवि, मन ! नयननि तें पावत दुख बहुतेरो।
भ्रमत स्रमित निसि दिवस गगन महँ तहँ रिपु राहु बड़ेरो॥
जद्यपि अति पुनीत सुरसरिता तिहुँ पुर सुजस घनेरो।
तजे चरन अजहूँ न मिटत नित बहिबो ताहू केरो॥[२]

अर्थात् ऐ मन ! स्वयं चंद्रमा एवं सूर्य तक उन (विराट्-स्वरूप परमात्मा की) आँखों से विमुक्त होने के कारण ही अनेक दुःख झेलते रहते हैं; वे आकाश में घूम-घूम कर रात दिन थकते रहते हैं और अपने प्रबल शत्रु राहु का भय भी उन्हें सदा बना रहता है। इसी प्रकार यद्यपि गंगा नदी अत्यंत पवित्र है और उसका यश भी चारों ओर फैला हुआ है, किंतु उक्त भगवान् के चरणों से अलग हो जाने के ही कारण उसका भी व्यग्र होकर निरंतर बहते रहना आज तक नहीं छूट पाया है।

[४]

जायसी द्वारा निर्दिष्ट प्रेम-तत्त्व की विशेषता उसके मूलतः विरहगर्भित होने में ही प्रत्यक्ष होती है। उक्त विरह के महत्त्व को लक्ष्य कर के ही उन्होंने

---

[१] **'जायसी-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० स०) (भूमिका भाग) पृष्ठ ४२**

[२] **'तुलसी-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), खंड २, पृष्ठ ५०६**

प्रेम के मार्ग को इतना कठिन और दुस्तर बतलाया है। इस प्रेम का आधार स्वयं परमात्मा एवं सारे ब्रह्माण्ड की एकता में सन्निहित है जिसको भूल जाने के कारण सारी सृष्टि आरंभ से ही पूर्ण विरही की भाँति निरंतर बेचैन बनी डोलती चली आ रही है। मूल-संबंध पर आश्रित रहने के ही कारण प्रेम इतना उच्च, आकर्षक और चिरस्थायी है और विरह का आदिस्रोत आदिसृष्टि के मूलविच्छेद में ही वर्तमान रहने के कारण वह इतना व्यापक, महत्त्वपूर्ण अथवा अनिवार्य सिद्ध होता है। अपनी वास्तविक स्थिति का पता लगते ही मनुष्य को पुरानी बातें स्मरण में आ जाती हैं और वह सोचता है—

हुता जो एकहि संग, हौ तुम काहे बीछुरा ?
अब जिउ उठै तरंग, मुहमद कहा न जाइ किछु ॥[1]

अर्थात सदा एक ही साथ रहने वालों में किस प्रकार वियोग हो गया जिससे आज हृदय में भाँति-भाँति के भाव पैदा हो रहे हैं और अपनी विचित्र स्थिति का हाल कहते नहीं बनता ! जायसी ने जीवात्मा एवं परमात्मा के आरंभिक विच्छेद अथवा जीवात्मा द्वारा परमात्मा की मूल-विस्मृति का कारण किसी काल्पनिक नारद को बतलाया है, जो देखने में इस्लामी मजहब के ग्रंथों में वर्णित शैतान के समान जान पड़ता है। किंतु उसके विघ्नोत्पादक ढंग पर विचार करते हुए, हम उसे हिंदू योगशास्त्रादि ग्रंथों में बतलाए गए, साधकों के मार्ग में आने वाले, विविध अंतरायों का समष्टिरूप ही कह सकते हैं।

जायसी द्वारा निश्चित सिद्धांतों के अनुसार, इसी कारण, प्रेम-मार्ग की वास्तविक सफलता का रहस्य आत्म-दर्शन अथवा अपने आपकी पहचान के भीतर छिपा हुआ है, जिसके लिए प्रेमी को अपने अंतर्जगत के साधने की आवश्यकता हुआ करती है। अतएव जायसी के प्रेम-तत्त्व में मानसिक पक्ष प्रधान है और शारीरिक गौण है, तथा इसी कारण, कथावस्तु का निर्वाह करते समय भी कवि ने नायक के लोक-कर्तव्य से अधिक उसके ऐकांतिक शुद्ध आदर्श की ही ओर ध्यान देना उचित समझा है। जायसी की 'पदुमावति' एक प्रकार का

[1] **'जायसी-ग्रंथावली'** (का० ना० प्र० सभा) पृष्ठ २४९

द्व्यर्थक काव्य है जिसमें राजा रतनसेन और पद्मावती की प्रेम-कथा के वर्णन-द्वारा कवि ने अपने प्रेम-तत्त्व के सिद्धांत को समझाने का प्रयत्न किया है और इस बात का उन्होंने उक्त ग्रंथ के उपसंहार भाग में स्पष्ट-रूप से उल्लेख भी कर दिया है[१]। किंतु ध्यानपूर्वक देखने से पता चल जाता है कि अपने उच्च आदर्शों की ओर ही विशेष-रूप से उन्मुख रहने के कारण, वे बहुत कुछ घटाने-बढ़ाने पर भी, प्रेम-कहानी को उचित ढंग से निबाहने में भलीभाँति कृतकार्य नहीं हो सके हैं। प्रेम-कहानी में आए हुए ऐतिहासिक अंश तथा कवि के मनोगत सांप्रदायिक भावों ने भी इसकी सफलता में, कदाचित्, बहुत कुछ बाधा पहुँचाई है। प्रथम के कारण, उद्देश्यानुसार जोड़ी गई नवीन बातों का बेमेल होना खटकता है तो द्वितीय के कारण, भावावेश में आकर कवि द्वारा वर्णित योग-संबंधी बातों का यथास्थल प्रकट होता रहना अरुचिकर प्रतीत होने लगता है।

'पदुमावति' ग्रंथ में, अपनी प्रियतमा पद्मावती से भेंट करने के उद्देश्य से, विकट सिंहलगढ़ पर विजय प्राप्त करने के इच्छुक, राजा रतनसेन को महादेव ने जो-जो उपाय बतलाए हैं वे ठीक-ठीक वे ही हैं जिन्हें एक योगी अपने शिष्य को समझाने के लिए रूपक का साधारण रंग देकर, बतला सकता था। वास्तव में, कवि ने इसी स्थल पर आत्म-दर्शनाभिलाषियों के लिए आत्मसाधन का उपदेश भी दे दिया है जो उनके प्रेम-तत्त्व-साधना-संबंधी सिद्धांतों का सारस्वरूप है। महादेव ने राजा रतनसेन से इस प्रकार कहा है—

गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया।
पुरुष देखु ओही कै छाया॥
पाइय नाहिं जूझ हठि कीन्हे।
जेइ पाया तेइ आपुहिं चीन्हे॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा।
औ तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा॥

---

[१] **'जायसी-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृष्ठ ३४१**

दसवँ दुवार गुपुत एक ताका ।
अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँका ॥
भेदै जाइ कोइ ओह घाटी ।
जो लह भेद चढ़ै होइ चाँटी ॥
गढ़ तर कुंड सुरँग तेहि माहाँ ।
तहँ वह पंथ कहौं तेहि पाहाँ ॥
चोर बैठ जस सेंधि सँवारी ।
जुआ पैंत जस लाव जुआरी ॥
जस मरजिया समुद्र धँस, हाथ आव तब सीप ।
ढूँढि लेइ जो सरग-दुआरी, चढै सो सिंघलदीप ॥
दसवँ दुवार ताल कै लेखा ।
उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा ॥
जाइ सो तहाँ साँस मन बंधी ।
जस धँसि लीन्ह कान्ह कालिंदी ॥
तू मन नाथु मारि कै साँसा ।
जो पै मरहि आपु करि नासा ॥
परगट लोकचार कहु बाता ।
गुपुत लाउ मन जासौं राता ॥
हौं हौं कहत सबै मति खोई ।
जौं तू नाहिं आहि सब कोई ॥
जियतहि जुरै मरै एक बारा ।
पुनि का मीचु को मारै पारा ?
आपुहि गुरु सो आपहि चेला ।
आपुहि सब औ आपु अकेला ॥
आपुहि मीच जियन पुनि, आपुहि तन मन सोइ ।
आपुहि आपु करै जो चाहै, कहाँ सो दूसर कोइ ॥[1]

[1] 'जायसी-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृष्ठ १०९-६

अर्थात् हे राजा रतनसेन, यह सिंहलगढ़ उसी प्रकार दुर्गम है जिस प्रकार तुम्हारा शरीर है और यदि सच पूछो तो, यह उसीकी एक छाया-मात्र है। अतएव केवल हठपूर्वक युद्ध करने से ही इस पर विजय नहीं मिल सकती। इसे वही पा सकता है जिसे अपने आपकी पहचान हो जाय। इस गढ़ में नव दरवाजे हैं जिन पर पाँच दुर्ग-रक्षकों का सदा पहरा पड़ता रहता है। इसमें एक दसवाँ गुप्त-द्वार भी है जिस पर चढ़ना अत्यंत कठिन है क्योंकि उस तक जानेवाला रास्ता बहुत ही टेढ़ा-मेढ़ा है। इस मार्ग को पार करने वाला केवल वही हो सकता है जो गढ़ के सारे भेदों का जानकार हो तथा जिसे चींटियों की चाल से चलना भी आता हो। गढ़ के ही नीचे एक कुंड से होकर उस द्वार तक एक सुरंग लगी हुई है; वही रास्ता है। इसलिए, चोर जिस प्रकार सेंध ठीक करके अंदर घुसा करता है, जुआ खेलनेवाला दाँव लगाकर बाजी मारता है और समुद्र में डूबकर 'मरजिया' सीप निकालता है, उसी प्रकार जो उक्त स्वर्ग-द्वार का पता पा लेगा वही सिंहलगढ़ पर चढ़ सकेगा। दशम द्वार, वास्तव में, ताड़ के समान ऊँचाई पर है इसलिए उलटी दृष्टि लगाने वाले ही उसे देख भी सकते हैं। वहाँ पर पहुँचनेवाला अपने मन एवं प्राणों को वश में करने पर ही जा सकता है। जिस प्रकार कृष्ण ने जमुना में कूदकर नाग नाथ लिया था उसी प्रकार तुम भी अपने प्राणों को रोककर मन को जीत लो और अपने आपको सिद्ध कर लो। प्रकट में तो लोकाचार की बातें करते जाओ, किंतु गुप्तरूप से अपनी प्रियतमा पर सदा ध्यान लगाए रहा करो। 'मैं मैं' कहते कहते तुमने अपनी सारी बुद्धि खो दी है इसलिए तुम्हारे ममत्व छोड़ने पर ही सब कुछ हो सकेगा। जीते-जी जुट कर एक बार यदि अहंकार को नष्ट कर दोगे तो फिर मृत्यु अथवा मारने वाले की आवश्यकता ही न रह जायगी। तुम स्वयं गुरु और स्वयं शिष्य भी हो, स्वयं तुम अकेले सब कुछ हो। मृत्यु-जीवन, शरीर अथवा मन सब तुम्हारे ही अंतर्गत हैं। अपने आपको जान लेने वाले के लिए कोई वस्तु बाहरी नहीं।

उपर्युक्त अवतरण में आत्म-दर्शन के उद्देश्य से की जाने वाली योग-साधना का उपदेश स्पष्ट दीख पड़ रहा है। जायसी यहाँ पर सिंहलगढ़ की दुर्जयता

एवं उस पर विजय प्राप्त करने के लिए साधनों का उल्लेख करते जा रहे हैं, किंतु, वास्तविक उद्देश्य कुछ और ही रहने के कारण, इनके वर्णन में वह स्वाभाविकता नहीं दीखती। इनके सिद्धांतों का ज्ञान रखनेवाले को शीघ्र पता चल जाता है कि 'आपुहि चीन्हे' से यहाँ कवि का अभिप्राय आत्म-ज्ञान से, 'नौ पौरी' द्वारा नव ज्ञानेंद्रियों से, 'पाँच कोटवारा' द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मद एवं मोह से, 'दसवँ दुवार' द्वारा ब्रह्मरंध्र से, 'कुंड' द्वारा कुडलिनी से, 'सुरंग' द्वारा सुषुम्ना नाड़ी से, 'साँस मन बँधी' द्वारा प्राणायाम और मनोनिग्रह से, "हौं हौ" कहत द्वारा अहंकर से तथा 'जियतहि जुरै मरै एक बारा' द्वारा जीवन्मुक्ति प्राप्त करने से है। इसी प्रकार 'चढ़े होइ चाँटी' से यहाँ तात्पर्य साधकों के पिपीलिका-मार्ग से जान पड़ता है। यह भी विदित हो जाता है कि कवि ने कुंड को 'गढ़तर' कहकर कुंडलिनी की स्थिति मूलाधार के निकट बतलायी है 'दसँव दुवार' को 'ताल कै लेखा' कह कर ब्रह्मरंध्र के स्थान का संकेत मानव शरीर के सर्वोच्च प्रदेश अर्थात् शिरोभाग के भी ऊपर किया है। 'आपुहि गुरु सो आपुहि चेला' इत्यादि से लेकर 'कहाँ सो दूसर कोइ' तक के उसके कथन का उद्देश्य 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' एवं 'अहंब्रह्मास्मि' अथवा 'तत्त्वमसि' का प्रतिपादन मात्र है। वास्तव में 'पदुमावति' 'पद्मावत' की प्रेम-कहानी और प्रेम-तत्त्व का रहस्य ही कुछ ऐसा है। जायसी ने 'अखरावट' में कहा भी है—

कहा मुहम्मद प्रेम-कहानी।
सुनि सो ज्ञानी भये धियानी॥[1]

अर्थात् जायसी द्वारा कथित प्रेम-कहानी को सुनकर तत्त्वज्ञानी लोग योगी हो जाते हैं।

जायसी ने 'पदुमावति' के अंतर्गत जहाँ राजा रतनसेन के पूर्वानुराग का वर्णन किया है और पद्मावती के नख-शिख का वर्णन सुनकर उसका मूर्छित हो जाना दर्शाया है वहाँ पर, इसी कारण, उसके द्वारा उस दशा का परिचय इस प्रकार दिलवाया है जिससे जान पड़ता है कि वे किसी योगी के मुंह से उसको

---

[1] **'जायसी-ग्रंथावली'** (का० ना० प्र० सभा), **पृष्ठ ३७६**

समाधि का वर्णन करा रहे हैं। मुर्छा से जगकर वहाँ राजा रतनसेन एक पागल के समान बकने लगता है और एक योगी के समान कह उठता है—

हौं तो अहा अमरपुर जहां।
इहां मरनपुर आएउ कहां॥
केइ उपकार मरन कर कीन्हा।
सकति हँकारि जीउ हरि लीन्हा॥
सोवत रहा जहां सुख साखा।
कस न वहां सोवत विधि राखा ?॥
अब जिउ उहां इहां तन सूना।
कब लगि रहै परान बिहूना॥[१]

और, इसी प्रकार जायसी ने उपर्युक्त रचना के 'लक्ष्मी समुद्र खंड' में पद्मावती के द्वारा भी कहलाया है—

काया उदधि चितव पिउ पाहां।
देखौं रतन सो हिरदय माहां॥
जनहुँ आहि दरपन मोर हिया।
तेहि महँ दरस देखावै पिया॥
नैन नियर पहुंचत सुठि दूरी।
अबतेहि लागि मरौं मैं झूरी॥
पिउ हिरदय महँ भेंट न होई।
कोरे मिलाव कहौं केहि रोई॥[२]

जिससे स्पष्ट है कि पद्मावती प्रेमिका यहाँ पर एक साधारण नायिका नहीं है। वह अपने प्रिय-पात्र रतनसेन को, एक पहुँचे हुए साधक की भाँति, अपने हृदय के भीतर ही देखा करती है। इसके सिवाय वह अन्यत्र ब्रह्म को ही सर्वव्यापी रूप में सर्वत्र देखने वाले की भाँति भी कहती है—

[१] 'जायसी ग्रंथावली (का० ना० प्र० सभा) पृष्ठ २७
[२] वही, पृष्ठ २०२

करि सिंगार तापहँ का जाऊं।
ओही देखहुँ ठावहिँ ठाऊं॥
जौ जिउ महं तौ उहै पियारा।
तन-मन सों नहि होइ निनारा॥
नैन मांहि है तुहै समाना।
देखों तहां नाहिं कोउ आना॥[1]

अतएव, जायसी द्वारा किये गए प्रेम-तत्त्व के वर्णन की एक दूसरी प्रधान विशेषता उनके द्वारा इसे आध्यात्मिक रूप प्रदान कर देने में है जिससे इश्क़ मजाजी और इश्क हक़ीकी में वस्तुतः कोई अंतर ही नहीं रह जाता। सच्चा एवं पूर्ण प्रेम सदा एकांतनिष्ठ बनकर सभी कुछ को अपने ही रंग में रँग देता है जिस कारण ऐसे प्रेमी एवं प्रेमिका की प्रत्यक्षतः दीख पड़ने वाली काम-केलि तक एक अलौकिक रूप ग्रहण कर लेती है। राजा रतनसेन के वियोग का अनुभव करने वाली पद्मावती के प्रति उसकी धाय जो कुछ कहती है उससे प्रतीत होता है कि जायसी के इस प्रेम का आदर्श बहुत ऊँचा है और उसमें आत्म संयम का भी अंश है।

जोवन तुरी हाथ गहि लीजिय।
जहाँ जाइ तहं जाइ न दीजिय॥
जोवन जोर मात गज अहै।
गहहु ज्ञान आँकुस जिमि रहै॥[2]

तथा,

कहेसि पेम जौं उपना, बारी।
बांधु सत्त मन डोल न भारी॥
जेहि जिउ मँह होइ सत्त पहारू।
परै पहार न बांकै बारू॥

---

[1] 'जायसी-ग्रंथावली (का० ना० प्र० सभा) पृष्ठ १६३

[2] वही, पृष्ठ ८२

सती जो जरै पेम सत लागी।
जौ सत हिये तौ सीतल आगी॥
जोवन चांद जो चौदस करा।
विरह कै चिनगी सो पुनि जरा॥
पौन बांध सो जोगी जती।
काम बांध सो कामिनि सती॥[1]

अर्थात् यौवन एक अश्व के समान है जिसे मनमाने ढंग से बहकने न देना चाहिए और उसका नियंत्रण अपने हाथ में रखना चाहिए। वह एक मतवाले हाथी के समान है जिसे अपने वश में रखने के लिए ज्ञान के अंकुश का प्रयोग करना चाहिए। यदि प्रेम तुम्हारे हृदय में उमँड़ कर अनर्थ करना चाहता हो तो अपने मन को 'सत्त' के द्वारा नियंत्रित कर दो। जिस किसीके भीतर 'सत्त' का पाहरू रहा करता है उसका कोई भी अनिष्ट बाल-बांका नहीं कर सकता। सच्चे प्रेम की आग में जलने वाली सती के लिए बाहर की आग शीतल बन जाती है। चौदहों कला से पूर्ण यौवन का चंद्रमा विरह की एक चिनगारी मात्र से जल उठता है। वास्तव में जो कोई योगी 'पवन' का नियंत्रण कर पाता है वही यती कहलाता है और जो कामिनी 'काम' का नियंत्रण करती है वही सती होती है। इसीलिए जायसी ने, हीरामन सुआ के प्रति, राजा द्वारा प्रेम का महत्त्व दर्शाते हुए कहलाया है—

जो नहि सीस प्रेमपथ लावा।
सो प्रिथिमी महँ काहेक आवा॥
अब मैं पेम पंथ सिर मेला।
पाँव न ठेलु, राखि कै चेला॥[2]

अर्थात् मानव जीवन का चरम लक्ष्य प्रेम ही है इस कारण आप मुझे शिष्य के रूप में स्वीकार कर लीजिए, मुझे निराश न कीजिए।

---

[1] **'जायसी-ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृष्ठ ८४**

[2] **वही, पृष्ठ ४६**

हित हरिवंश के 'हित चौरासी' पद

[१]

गोस्वामी हित हरिवंश राधावल्लभीय संप्रदाय के सर्व प्रथम आचार्य थे। वे अपनी रचनाओं के माधुर्य के कारण श्रीकृष्णचंद्र की वंशी के अवतार भी माने जाते थे। उनका पूर्व नाम केवल हरिवंश था और उनका जन्म सं० १५५९ की चैत्र सुदि एकादशी के दिन,[1] मथुरा से चार मील दक्षिण की ओर बादगाँव नामक स्थान में हुआ था। उनके पिता का नाम व्यास मिश्र था। वे गौड़वंशीय ब्राह्मण थे और उनकी माता का नाम तारावती था। बाल्यावस्था से लेकर मृत्यु-पर्यंत उनका प्रायः संपूर्ण जीवन-काल व्रजमंडल के ही अंतर्गत व्यतीत हुआ था। कुछ लोगों का अनुमान है कि वे सहारनपुर जिले के देववन गाँव में भी रहे थे और उनके वंशज आजकल देववन एवं वृंदावन में रहा करते हैं। कहते हैं कि पहले ये किसी माध्व-संप्रदायानुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य थे और फिर निम्बार्क मतानुवर्त्ती हो गए थे। परंतु, श्री राधिका द्वारा स्वप्न-काल में मंत्र ग्रहण कर लेने के कारण, आगे चल कर इन्होंने अपना एक नवीन संप्रदाय चलाया। इस संप्रदाय की स्थापना के उपलक्ष में इन्होंने अपने इष्टदेव श्री राधावल्लभ की मूर्ति सं० १५८२ में पधरायी और सं० १५९१ में

[1] "पन्द्रह सौ उनसठ सम्वत सर, वैशाखी सुदि ग्यार सोमवर।
तह प्रगटे हरिवंश हित, रसिक मुकुट मणिमाल।
कर्म ज्ञान खंडन करन, प्रमभक्ति प्रतिपाल॥"

—किसी भगवत मुदित रचित 'हित हरिवंश चरित्र' से डा० दीन दयालु गुप्त के ग्रंथ 'अष्टछाप और वल्लभसंप्रदाय' के पृष्ठ ६४ पर उद्धृत। (जान पड़ता है कि उपर्युक्त प्रथम पक्ति में चैत्र को ही, दक्षिणी प्रथानुसार, वैशाख लिख दिया गया है—लेखक)।

इन्होंने उसका सर्व प्रथम पटमहोत्सव किया। तबसे ये निरंतर वृंदावन में ही विरक्त होकर निवास करने लगे तथा वहीं से, कुछ दिनों के अनतर, इन्होंने अपने मत का प्रचार भी आरंभ कर दिया।

प्रसिद्ध है कि सं० १६२२ के लगभग उन्हें ओरछा-नरेश महाराज मधुकर शाह के राजगुरु हरिराम व्यास ने शास्त्रार्थ के लिए ललकारा था, परंतु उनके मर्मस्पर्शी उत्तर से हार मानकर उन्होंने उनकी शिष्यता स्वीकार कर ली थी। उनकी शिष्य-परंपरा के अंतर्गत व्यास जी के अतिरिक्त सेवक जी, ध्रुवदास जी: चाचा हित वृंदावन तथा हठी जी आदि अनेक प्रसिद्ध भक्त हो गए हैं, उनके गोलोक-वास की तिथि का पता अभी तक निश्चित रूप से नहीं चल पाया है। उनके चार पुत्रों के नाम वनचंद्र, कृष्णचंद्र, गोपीनाथ और मोहनलाल बतलाये जाते हैं और उनकी एक पुत्री का भी होना प्रसिद्ध है। उनकी स्तुति, वंदना, यशोवर्णन अथवा चरित्र के विषयों को लेकर अनेक रचनाएँ की गई हैं जिनमें से 'हित जू की सहस्र नामावली', 'हित जू को मंगल' तथा 'सेवक बानी' अधिक प्रचलित हैं और अंतिम पुस्तक छोटी होने पर भी विशेष साप्रदायिक महत्त्व की है। हितहरिवंश की प्रशंसा में प्रसिद्ध भक्तमाल-रचयिता नाभादास ने भी एक छप्पय लिखा है और उसमें, इनके 'भजन की रीति' की अपूर्वता का उल्लेख करते हुए, कहा है कि इसे कोई 'सुकृत' अर्थात् सौभाग्यशाली ही जान सकता है।[1] उनकी भक्तमाल' के टीकाकार प्रियादास के अनुसार ये राधा को कृष्ण से भी अधिक प्रधानता देते थे और निरंतर उन्हीकी कृपा-दृष्टि की चाहना करते-करते इन्होंने विधि-निषेध तक की तिलांजलि दे दी थी।

गोस्वामी हित हरिवंश की निजी रचनाओं में से 'राधासुधानिधि' ग्रंथ संस्कृत में है। इसमें कुल मिलाकर केवल १७० श्लोक में जिनसे उनके रचयिता का प्रगाढ़ पांडित्य भलीभाँति प्रकट होता है। हिन्दी में लिखी गई इनकी एक मात्र पुस्तक 'हित चौरासी' नाम से प्रसिद्ध है जो वस्तुतः चौरासी पदों का एक संग्रह मात्र है। इसके पदों का कोई विषयानुसार दिया गया क्रम नहीं है और न

---

[1] 'भक्तमाल' (भक्तिसुदाविंदु स्वाद नाम की टीका सहित) पृष्ठ ६०९

इनमें इस प्रकार की अन्य कोई विशेषता है। ये पद भिन्न-भिन्न चौदह रागों में विभक्त कर उन्हींके अनुसार प्रकाशित हैं और किस-किस राग के अन्तर्गत कितने-कितने पद आये हैं इसका विवरण एक 'फलस्तुति' के कवित्त में दिया है। जैसे,

छै पद विभास मांझ, सात हैं विलावल में,
टोडी में चतुर, आसावरी में द्वै बने ॥
सप्त हैं धनाश्री में, जुगल बसंत कलि,
देवगंधार पंच, दोय रस सों सने ॥
सारंग में षोड़श है, चार ही मलार, एक,
गौड़ में सुहायौ, नव गौरी रस में भने ॥
षट् कल्यान निधि, कान्हरे केदारे वेद,
बानी हित जू की सब, चौदह राग में गने ॥१॥ [1]

परंतु उक्त 'फलस्तुति' अथवा ग्रंथ में संगृहीत किसी पद से भी इस रचना के निर्माण-काल का पता नहीं चलता। जान पड़ता है कि संगृहीत पदों की रचना समय-समय पर हुई होगी और अंत में, इन्हें स्वयं हित हरिवंश जी अथवा उनके किसी शिष्य ने एकत्र करके संग्रह का नाम 'हित चौरासी' दे दिया होगा। इस प्रकार के फुटकर पदों की रचना, कम-से-कम अपभ्रंशकालीन चौरासी सिद्धों के ही समय से, होती चली आ रही थी और उन्हें, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न रागों के अंतर्गत संगृहीत करने की प्रथा भी प्रचलित थी। संस्कृत-कवि जयदेव, मैथिली-कवि विद्यापति, बंगला-कवि चंडीदास ने उसी परंपरा का अनुसरण किया था और उसीको कबीर जैसे संत कवि भी अपनाते आ रहे थे तथा हित हरिवंश के समसामयिक 'अष्टछाप' के वैष्णव कवि तक उस समय ऐसा ही करते थे।

---

[1] 'श्री हित चतुराशी सेवक वाणी' (श्री वृन्दावन धाम, हिताब्द ४४६) पृष्ठ ७०-७१

[२]

चौरासी पदों में से लगभग दो तिहाई से अधिक रचनाएं श्री राधा एवं श्रीकृष्ण के पारस्परिक प्रेम और विविधि विनोदपूर्ण लीलाओं से परिपूर्ण हैं और शेष एक तिहाई में भी अधिकतर ऐसी ही कविताएं हैं जिनमें उसी युगल मूर्ति के रूप-लावण्य अथवा हाव-भाव का वर्णन किसी न किसी प्रकार से किया गया दीख पड़ता है। राधाकृष्ण की कुंज-लीला का ध्यान ही इस संप्रदाय की सर्वोच्च साधना कही जाती है जिसे उसके अनुयायियों ने 'परम रस माधुरी' का नाम दिया है। सिद्धांत निरूपण इनका लक्ष्य नहीं और, इसी कारण, चौरासी पदों में से केवल एकाध ही ऐसे मिलेंगे जिनमें उसकी चर्चा है। वर्णन-विषयक पदों में भी वृन्दावन, मोहन वा उनकी वंशी के संबंध में जो रचे गए हैं वे उतने सुंदर नहीं हैं जितने वे जो उनकी प्रेयसी श्री राधा का वर्णन करते हैं और ऐसे पद, वास्तव में, बहुत मनोहर हैं। उनमें उपलब्ध शब्द चयन और सुंदर पद-विन्यास ऐसे हैं जिनके कारण उनमें गेयत्व स्वाभाविक गुण आ गया है।

इसकी अपूर्वता दर्शाने के लिए अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। यहाँ पर, पहले पहल हम दो-चार ऐसे पद दे रहे हैं जिनमें श्री राधाजी के सौंदर्य, और विशेषकर उनके नेत्रों का वर्णन है। कवि ने किसी सखी द्वारा उनके नेत्रों के विषय में, उन्हींके प्रति, कहलाया है—

अति ही अरुण तेरे नैन नलिन री।

आलस जुत इतरात रंगमगे, भये निशि जागर मखिन मलिन री ॥१॥

शिथिल पलक में उठति गोलक गति, बिध्यो मोहन मृग सकत चलिन री ॥२॥

इत्यादि।[१]

अर्थात् हे सखी, तेरे नेत्र बहुत ही लाल हो गए हैं। रात भर जगे रहने के

[१] **'श्री हित चतुराशी सेवक वाणी' पृष्ठ ५-६**

कारण इनमें सुकुमारता के साथ-साथ कुछ मालिन्य भी आ गया है; और ये आलसी, किंतु, साथ ही, कुछ रँगीले भी हो जाने से, थोड़ा-बहुत इतराते हुए से दीख पड़ रहे हैं। ये इतने प्रभावशाली हैं कि शिथिल पलकों के भीतर-भीतर संचरण करने वाली इनकी पुतलियाँ तक, बाणों की भाँति, मोहन-रूपी मृग को वेध देती हैं और उसका चलना-फिरना बंद हो जाता है। भाव यह कि रात-भर केलि करते करते जगे हुए भी श्रीकृष्ण और राधा, एक दूसरे को छोड़कर, विश्राम के लिए अलग नहीं जा पाते। इसी प्रकार इन नेत्रों को लक्ष्य कर एक अन्य स्थल पर यह भी कहते हैं—

खंजन मीन मृगज मद मेटत,
कहा कहौं नैननि की बातैं।
सुनि सुंदरी कहाँ लौं सिखई,
मोहन बसीकरन की घातैं ॥१॥
बक निसंक चपल अनियारे,
अरुण स्याम सित रचे कहाँ तै।
डरत न हरत परायो सर्वस,
मृदु मधु इव मादक दृग पातै ॥२॥ इत्यादि।[1]

अर्थात् इन नेत्रों की बातें कहाँ तक की जायँ, इन्होंने तो खंजन, मीन तथा मृग-छौनों को भी मात कर दिया है। हे सुंदरी, तूने इन्हें मोहन को वश में लाने की युक्तियाँ कहाँ तक सिखला दी है। ये नेत्र तिरछे, निडर, चंचल, अनोखे, लाल, काले एवं श्वेत बने हुए एक ही साथ अनेक गुणों से युक्त जान पड़ते हैं, पता नहीं चलता कि ऐसी विचित्र वस्तु की रचना कहाँ हुई हैं। ये ऐसे हैं जो, सदा रस-मत्त रहते हुए भी किसीसे भय नहीं खाते बल्कि दूसरे का सर्वस्व तक अपहरण कर लेते हैं।

---

[1] **'श्री हित चतुराशी सेवक वाणी' पृष्ठ ६०-१**

उक्त अवतरणों के अंतर्गत सुंदर शब्द-चयन एवं पद्य-प्रवाह भी देखने योग्य हैं।

श्रीराधा के मुख-सौंदर्य का वर्णन करना तो कवि ने, एक प्रकार से, असंभव ही समझा रखा है क्योंकि 'राधानागरी', वास्तव में, 'सुंदरता की सीवाँ' हैं, और—

जो कोउ कोटि कलप लगि जीवै, रसना कोटिक गावै;
तऊ रुचिर बदनारबिंद की, सोभा कहत न आवै।

फिर भी नीचे लिखे प्रसिद्ध पद में कवि उस 'नागरता की राशि किशोरी' का इस प्रकार करने की चेष्टा करता है; जैसे,

व्रज नव तरुनि कदम्ब मुकट मणि, श्यामा आजु बनी।
नख शिख लौं अँग अंग माधुरी, मोरे श्याम धनी ॥१॥
यों राजत कबरी गुंथित कच, कनक कंज बदनी।
चिकुर चंद्रिकनि बीच अर्ध बिधु, मानो ग्रसित फनी ॥२॥
सौभग रस शिर स्रवत पनारी, पिव सीमंत ठनी।
भृकुटि काम कोदंड नैन-सर, कज्जल रेख अनी ॥३॥

× × ×

नाभि गंभीर मीन मोहन मन, खेलन को ह्रदनी।
कृश कटि पृथु नितम्ब किंकिन वृत, कदली-खंभ-जघनी ॥७॥
पद अम्बुज जावक जुत भूषण, प्रीतम उर अवनी।
नव नव भाय विलोभि भाम इभ, विहरत वर करनी ॥८॥[1]

अर्थात् व्रज-मंडल की युवतियों के समूह की शोभा-स्वरूपिणी श्री राधाजी आज भली भाँति बनी ठनी दीख पड़ रही हैं, और इनकी, नख-शिख तक भरी हुई, रूप-माधुरी ने श्रीकृष्णचंद्र के मन को मुग्ध कर रखा है। इनका मुखारविंद,

---

[1] **'श्री हित चतुराशी सेवक वाणी' पृष्ठ, २०-२**

सुनहले कमल के समान सुंदर होने के कारण, बीच-बीच में श्वेत मोती आदि पिरोकर गूँथे गए चितले बालों के साथ, ऐसा जान पड़ता है, मानो, तारावली से सुसज्जित रात के समय, किसी सर्प द्वारा निगला जाता हुआ अर्द्ध चंद्र हो। इनके सिर पर माँग के बीचोबीच अपने प्रियतम के ही करों द्वारा भरे गए सोहाग-सूचक सिंदूर की रेखा वर्तमान है और, इसी प्रकार इनके नेत्र-रूपी बाणों के साधने के लिए कामदेव के धनुष के समान इनकी भृकुटि बनी हुई है तथा काजल की रेखा किसी भाले की नोक-सी जान पड़ती है। .. . श्री राधा की गंभीर नाभि श्री मोहन के मनरूपी मीन के खेलने के लिए तालाब का काम करती है। इनकी क्षीण कटि के नीचे विविध किंकिणियों से विभूषित इनके बड़े-बड़े नितम्ब तथा कदली-स्वरूप जंघ हैं और इनके महावर से रँगे हुए चरण-कमल इनके प्रियतम के वक्षःस्थल पर सुशोभित होने वाले हैं। ये सदा नये-नये प्रकार से अपने प्रेमी को मोहित करती हुई, सुंदर हथिनी के समान विहार करती फिर रही हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस पदांश में भी, ऊपर आये हुए दोनों अवतरणों की ही भाँति, शब्द-सौंदर्य एवं गेयत्व है और इसकी आलंकारिक भाषा के अंतर्गत शब्द-चित्रों का अंकन भी स्पष्ट लक्षित हो रहा है।

[३]

गोस्वामी हित हरिवंशजी ने जितनी निपुणता के साथ सौंदर्य का वर्णन किया है उतनी ही सफलता के साथ श्रीराधा-कृष्ण के पारस्परिक प्रेम-सम्बन्धी गूढ़ रहस्यों को भी व्यक्त करने की चेष्टा की है। उनके ऐसे वर्णनों में उनके स्वाभाविक पद-लालित्य के साथ ही, भावों के मनोहर चित्रण भी पर्याप्त रूप में दीख पड़ते हैं। उन्होंने उस युगल-मूर्ति के मिलन, क्रीड़ा-केलि, हास-विलास आदि को, उनके झूलन, रास रति-संयोग एवं शृंगार-विधान से लेकर होली, दान-लीला तथा वंशी-वादन तक की भिन्न-भिन्न चेष्टाओं द्वारा प्रदर्शित कर, प्रसङ्गों के ही व्याज से, उनकी आंतरिक भावनाओं को व्यंजित किया है। निम्नलिखित कतिपय उदाहरण इसके प्रमाण में दिये जाते हैं। सबसे पहले देखिए कि प्रेमोत्पत्ति का निदर्शन किस प्रकार एक साधारण घटना के विवरण द्वारा कराया गया है—जैसे,

नंद के लाल हर्‌यो मन मोर ।

हौं अपने मोतिन लर पोवति, काँकर डारि गयो सखि, भोर ॥१॥

बंक विलोकनि चाल छबीली, रसिक शिरोमणि नंदकिशोर ।

कहि कैसे मन रहत श्रवन सुनि, सरस मधुर मुरली की घोर ॥२॥

इंदु गोविंद बदन के कारण, चितवत को भये नैन चकोर ।

श्री हरिवंश रसिक रस जुवती, तूलै मिलि सखि प्राण अंकोर ॥३॥[1]

अर्थात् हे सखी, नंदलाल ने मेरा मन हर लिया । मैं कहाँ प्रातःकाल अपने मोतियों की लर पोह रही थी कि, इसी बीच आकर उन्होंने मेरे ऊपर कंकड़ मारा । उसकी चितवन तिरछी और चाल सुंदर है और वह नंदकिशोर रसिकों में श्रेष्ठ भी हैं, उसकी रसीली मधुर मुरली-ध्वनि सुनकर किस प्रकार, भला, किसी का मन स्थिर रह सकता है, उस गोविंद का मुखचंद्र देखने के लिए आज मेरे नेत्र, चकोरों की भाँति, तरस रहे हैं कवि का संकेत है कि, अमर युवती, तू उस रसिक-प्रवर से जा मिल और उसे अपने प्राणों का अँकोर अर्थात् भेंट अर्पण कर । ऐसे प्रियतम के साथ मिलने के लिए प्राणों से अधिक उपयुक्त भेंट और क्या हो सकती है । गोस्वामीजी की समसामयिक भक्त कवयित्री मीराँबाई ने भी अपने एक पद में "देसी प्राण अँकोर" कह कर इसी अमूल्य उपहार को उस अवसर के अनुकूल ठहराया है । श्री राधा कृष्ण की युगल-मूर्त्ति के मिलन-संबंधी अनुपम अवसर का वर्णन करते हुए कवि ने, एक स्थल पर, उनकी प्रेमरस भीनी चेष्टाओं को इस प्रकार दर्शाया है—

आजु प्रभात लता-मंदिर में,

सुख वरसत अति हरषि जुगल वर ।

गौर श्याम अभिराम रंगभरि,

लटकि लटकि पग धरत अवनि पर ॥[2] **इत्यादि ।**

---

[1] **'श्री हित चतुराशी सेवक वाणी' पृष्ठ, १६-७**

[2] **वही, पृष्ठ ३**

अर्थात् आज प्रातःकाल दोनों (श्री राधा एवं श्रीकृष्ण) लता-मंडप में मिलकर आनंदित हो रहे थे और उनके चारों ओर, मानो सुख की वर्षा हो रही थी। वे दोनों ही क्रमशः गौर एवं श्याम कांति वाले, प्रेम-रस के मारे झूम-झूम कर पृथ्वी पर पैर रखते थे। इन पंक्तियों के सुंदर प्रवाह का आनंद इन्हें दो-चार बार दुहराते ही मिलने लगता है और इनमें अंकित 'लटकि लटकि पग धरत अवनि पर' के भावों का स्पष्ट एवं मनोहर चित्र हमारी आँखों के समक्ष खड़ा हो जाता है। प्रेम-रस का प्रभाव विचित्र है!

गोस्वामी जी ने, इसी प्रकार, निम्नलिखित पंक्तियों में उसी युगल-मूर्ति के प्रेम भरे आमोद-प्रमोद का वर्णन क्रमशः उनकी रासलीला, झूलन एवं केलि के प्रसंगों द्वारा बहुत ही सुंदर ढंग से किया है; इनमें भी हमें उनके उक्त गुणों के अच्छे उदाहरण दीख पड़ेंगे। जैसे,

आजु नागरी किशोर भावती विचित्र जोर,
कहा कहौं अंग अंग परम माधुरी।
करत केलि कंठ मेलि बाहु दंड गंड गंड,
परस सरस रास लास मंडली जुरी।
श्याम सुंदरी विहार बाँसुरी मृदंग तार,
मधुर घोष नूपुरादि किंकिनी चुरी।
देखत हरिवंश आलि निर्त्तनी सुगंध चालि,
वारि फेर देत प्राण देह सौं दुरी॥१०॥[1]

अर्थात् आज श्री राधा और श्रीकृष्ण अनोखे ढंग से क्रीड़ा कर रहे हैं; उनके अंग-अंग का माधुर्य अनिर्वचनीय है। उनकी मंडली के साथी, नृत्य एवं रास की लीला करते समय, गले से गला लगाकर तथा बाहु से बाहु एवं कपोल से कपोल का स्पर्श करते हुए केलि में मग्न हैं। श्याम एवं सुंदरी के इस विहार के अवसर पर वंशी मृदंगादि वाद्ययंत्रों के साथ ही साथ नूपुर, किंकिणी एवं चुरियों

---

[1] **'श्री हित चतुराशी सेवक वाणी' पृष्ठ ७**

की भी मधुर झंकार सुन पड़ रही है जिसके द्वारा मुग्ध होकर देखने वाला अपने प्राणों तक को उस पर न्योछावर करने को प्रस्तुत हो उठता है। इस अवतरण का छंद भी ऐसा उपयुक्त है कि पढ़ते समय इसकी लय के साथ-साथ उस रास के अभिनय का एक जीता जागता-सा चित्र सामने आ जाता है। इसी प्रकार उन दोनों के झूलन का वर्णन करते हुए वे कहते हैं —

झूलत दोऊ नवल किशोर ।
रजनी जनित रंग सुख सूचत, अग अंग उठि भोर ॥१॥
अति अनुराग भरे मिलि गावत, सुर मंदर कल घोर ।
बीच बीच प्रीतम चित चोरत, प्रिय नैन की कोर ॥२॥
अबला अति सुकुमारि डरत मन, वर हिंडोर झँकोर ।
पुलकि पुलकि प्रीतम उर लागत, दै नव उरज अँकोर ॥३॥इठ॥[1]

अर्थात् दोनों नवल किशोर एवं किशोरी झूल रहे हैं और प्रातःकाल के अवसर पर रात्रि-समय की केलि के चिह्न उनके अंग-अंग से प्रकट हो रहे हैं। अत्यंत प्रेम से भरे सुंदर स्वरों में वे मिलकर गाते हैं और श्री राधा की चितवन, बीच-बीच में अपने प्रियतम का चित्त चुराती रहती है। हिंडोले के कड़े झोंके खाकर जब कभी कोमलांगी युवती डरने लगती है उस समय अपने कोमल कुचों का उपहार अर्पण करती हुई वह अपने प्रियतम के गले लग जाती है। वास्तव में इस अपूर्व आनंद का कारण उस युगल मूर्ति का केवल नवयौवन मात्र ही नहीं है, उनका सारा वातावरण नवीनता से भरा हुआ है। कवि का कहना है—

नयौ नेह नव रंग नयौ रस,
नवल स्याम वृषभान किशोरी ।
नव पीतांबर नवल चूनरी,
नई नई बूँदन भीजति गोरी ॥१॥

---

[1] **'श्री हित चतुराशी सेवक वाणी' पृष्ठ २७**

नव वृंदावन हरित मनोहर,
नव चातिक बोलत मोर-मोरी।
नव मुरली जु मलार नई गति,
श्रवन सुनत आये घन घोरी ॥२॥इत्यादि॥[1]

अर्थात् सब कुछ नया ही नया है और नवीनता सब कहीं दिखलाई पड़ रही है। नया प्रेम, नया रंग, नया रस, नये श्याम, नयी राधिका, नया पीतांबर, नयी चूनरी और उस पर भी नयी ही नयी बूँदों के पड़ने से उस गौर वर्ण की युवती का भीगता जाना—ये सभी मनोमोहक हैं, फिर नया वृन्दावन जिसमें चारों ओर हरियाली छा रही है और जिसमें नये-नये चातक एवं मोर-मोरिनी बोल रहे हैं, नयी मुरली जिसके द्वारा नये मलार गाये जा रहे हैं और उसकी भी नयी तान जिसे, कदाचित्, सुनते ही चारों ओर से बादल घिर आते हैं—सभी एक-से-एक बढ़-कर नवीन एवं चित्ताकर्षक हैं।

परंतु जहाँ पर ये सारी आमोद-प्रमोद की सामग्रियाँ जुटी हैं वहाँ पर भी विरह की पीड़ा का अवसर कभी न कभी आ ही जाता है। श्री राधिका ने, श्रीकृष्ण की किसी बात से रूठ कर, उन से बोलना तक छोड़ दिया और मानिनी बनकर बैठ गईं। ऐसी दशा में उस प्रेमी को विरह के कारण कितना कष्ट पहुँचा उसका पता, श्री राधिका को मनाने गई हुई, किसी दूती की बातों द्वारा कवि ने इस प्रकार दिया है—

चलहि किन मानिनि, कुंज-कुटीर।
तो बिनु कुँवरि कोटि वनिता जुत, मथत मदन की पीर ॥१॥
गदगद सुर विरहाकुल पुलकित, श्रवत बिलोचन नीर।
क्कासि क्कासि वृषभान नंदिनी, बिलपत विपिन अधीर ॥२॥
वंशी बिसिष व्याल मालावलि, पंचानन पिक कीर।
मलयज गरल हुतासन मारुत, साखामृग रिपु चीर ॥३॥इत्यादि॥[2]

---

[1] 'श्री हित चतुराशी सेवक वाणी' पृष्ठ ४१

[2] वही, पृष्ठ २९-३०

अर्थात् हे मानिनी राधा, तुम कुंज-वन में कृष्ण के पास क्यों नहीं चलती ? वे, करोड़ों अथवा अनेक युवतियों के साथ रहते हुए भी, तुम्हारे बिना काम की पीड़ा से बहुत ही व्यथित हो रहे हैं। उनका स्वर-भंग हो गया है और, विरह-व्यथा के कारण, उनकी आँखों से सदा आँसू गिरते रहते हैं। वे अधीर-से होकर, बन में 'हे राधे, कहाँ हो ? हे राधे कहाँ हो ?' कहते हुए रोते फिर रहे हैं, उनकी वंशी उन्हें बाणतुल्य जान पड़ती है और कोयल वा तोते की मधुर बोली तक उन्हें सिंह की गर्जन के तुल्य प्रतीत होती है। उनके लिए चंदन विष के समान है वायु अग्नितुल्य है और अपने वस्त्र तक उन्हें शत्रुवत् समझ पड़ रहे हैं। सच तो यह है—

प्रीति की रीति रँगीलोई जानै ।
जद्यपि शकल लोक चूड़ामणि, दीन अपनपौ मानै ॥१॥[1]

अर्थात् प्रेम का निभाना किस प्रकार का होता है, यह श्रीकृष्ण ही जानते हैं, नहीं तो, सारे संसार के भूषण-स्वरूप होते हुए भी, उन्हें क्या पड़ी थी कि अपने को, केवल किसी मानिनी की एक मुसक्यान भर के लिए ही, इतना दीन बना डालते ! वास्तव में—

प्रीति न काहु की कानि बिचारै ।
मारग अपमारग विथकित मन, को अनुसरन निवारै ॥१॥
ज्यों सरिता सावन जल उमगत, सनमुख सिंधु सिधारै ।
ज्यों नादहि मन दियै कुरंगनि, प्रगट पारधी मारै ॥२॥
हित हरिवंशहि लग सारँग ज्यों, सलभ शरीरहि जारै ।
वाइक निपुन नवज्ञ मोहन बिनु, कौन अपनपौ हारै ॥३॥[2]

अर्थात् प्रेम किसी अन्य बात का विचार मन में नहीं आने देता। ऐसा, कदाचित्, कोई भी न मिले जो मार्ग-कुमार्ग, जहाँ कहीं भी दौड़ लगाते हुए अपने प्रेमी

---

[1] **'श्री हित चतुराशी सेवक वाणी' पृष्ठ ३२**

[2] **वही, पृष्ठ ३३**

न को रोक रखने में समर्थ हो सके। यह स्वाभाविक बात है कि सावन महीने भरपूर जल को लेकर उमड़ती हुई नदी समुद्र की ओर चली ही जाती है, धुर स्वर की ओर चित्त देने वाले मृग बहेलिये का शिकार बने बिना बच नहीं ते और, अग्नि के साथ हिल-मिल कर रहने के लालच में, पतंग अपने को ला ही डालता है। ऐसी दशा में नायकों में निपुण श्रीकृष्णचंद्र भला अपने ो न्योछावर किये बिना कैसे रह सकते हैं—उनके सिवाय दूसरा कौन ऐसा कर ो सकता है। फिर उनकी प्रेम-पात्री राधा की भी भावना उनके प्रति वैसी ही हैं; नका तो कहना ही है—

जोई जोई प्यारो करै सोई मोहि भावै;
भावै मोहि जोई सोई सोई करै प्यारे।
मोको तो भावतो ठौर प्यारे के नैननि में;
प्यारो भयो चाहै मेरे नैननि के तारे ॥१॥
मेरे तन मन प्राण हू ते प्रीतम प्रिय,
अपने कोटिक प्राण प्रीतम मो सो हारे।
श्री हित हरिवंश हंश हंशनी साँवल गौर।
कहौ कौन करै जल तरंगनि न्यारे ॥२॥[1]

अर्थात् जो कुछ भी मेरा प्रियतम किया करता है, वह सभी मुझे भला लगता है और जो कुछ मुझे भला लगता है, वही वह किया भी करता है। मुझे अपने प्रियतम की आँखों में बसना पसंद है, और वह मेरी आँखों की पुतली बनकर रहना चाहता है। मेरा प्रियतम मुझे अपने प्राणों से भी प्यारा है, और उसने अपने करोड़ों प्राण मेरे ऊपर न्योछावर कर दिये हैं। कवि का कहना है कि ये श्याम और गौर कांति वाले हंस एवं हंसिनी के समान हैं जिन्हें, जल और तरंग की भाँति ही कोई विलग-विलग नहीं कर सकता—ऐसा समझना किसीकी भी शक्ति के बाहर की बात है। सच्ची प्रेमिका एवं सच्चे प्रेमी के लिए, वास्तव में, यही आदर्श है।

---

[1] **'श्री हित चतुराशी सेवक वाणी' पृष्ठ १**

[४]

'हित चौरासी पद' के पदों की संख्या कम है, किंतु उनमें अधिक पद ऐसे मिलेंगे जिनके साथ, सौंदर्य की दृष्टि से, बहुत से दूसरे कवियों की रचनाएं तुलना में ठहर नहीं सकतीं, इनमें, भाषा-लालित्य, शब्द-सौंदर्य एवं गेयत्व के कारण, एक ऐसे माधुरी का अनुभव होता है जो, वास्तव में, एक दम अनूठा है। 'गीत गोविंद' के रचयिता संस्कृत-कवि जयदेव की शैली का न्यूनाधिक अनुसरण करने वाले हिंदी कवियों में मैथिल-कवि विद्यापति एवं भक्त सूरदास अधिक प्रसिद्ध हैं। परंतु विद्यापति की 'पदावली' की भाषा मैथिली, हित हरिवंश की ब्रजभाषा से भिन्न है, अतएव, संस्कृत के तत्सम एवं बहुत से तद्भवों में अधिक साम्य रहने पर भी, हमें दोनों भाषाओं की मौलिक विभिन्नता के कारण, इन दोनों कवियों के रचना-कौशल की तुलना उतनी सुगम नहीं जान पड़ती, हां, भाषा की एकता के आधार पर, इनकी तुलना सूरदास के साथ कहीं अधिक उपयुक्त कही जा सकेगी। 'सूरसागर' के कुछ पद 'हित चौरासी' वाले पदों के बहुत समान हैं और, सूरदास के चुने हुए पदों में, यदि हरिवंश जी के पद यत्र-तत्र सम्मिलित कर दिये जांय तो, निश्चय है कि, इनकी गणना उनमें से सर्वश्रेष्ठ में होने लगेगी। सूरदास की रचनाओं में, विषय की दृष्टि से, वर्णनों का अधिक विस्तार है फिर भी शृंगारिक भाव-चित्रण में इनसे अधिक सफलता नहीं है।

'हित चौरासी' के पद, कभी कभी, संगीतज्ञों द्वारा बड़ी तन्मयता के साथ गाये जाते हुए भी सुन पड़ते हैं, फिर भी, अपने महत्त्व की दृष्टि से, वे उतने लोकप्रिय नहीं है और इसका मुख्य कारण उक्त ग्रंथ के किसी सुंदर एवं सुलभ संस्करण का अभाव ही जान पड़ता है। बहुत दिन पहले 'हित चौरासी पद' की एक टीका भी किसी गोकुलनाथ कवि ने लिखी थी जिसका आजकल कहीं पता

यह जु एक मन बहुत ठौर करि कहि कौनै सचुपायौ।
जहाँ तहाँ विपति जार जुवति लौं, प्रगट पिंगला* गायो ॥१॥

*** श्री मद्भागवत के अनुसार पिंगला एक वेश्या थी, जो एक सुंदर धनी पुरुष पर आसक्त हो गई थी और जिसे, उसके साथ, बहुत कुछ प्रतीक्षा**

द्वै तुरंग पर जोर चढ़त हटि, परत कौन पै धायौ ।
काहू धौं कौन अंक पर राखै, जो गनिका सुत जायौ ॥२॥
हित हरिवंश प्रपंच वंच सब, काल व्याल को खायौ ।
यह जिय जानि श्याम श्यामा पद, कमल संगी शिर नायौ ॥३॥ [1]

नहीं चलता। अंत में हम उनका एक सिद्धान्त-सम्बन्धी पद भी दे देते हैं। अर्थात् अपने एक मात्र मन को अनेक स्थलों में उलझा कर भला किसने कभी सुख पाया होगा। जिस किसीने ऐसा किया उसे जहाँ-तहाँ विपत्ति का ही सामना करना पड़ा और अनेक जारो के साथ रमण करने वाली युवती की भाँति अंत में निराश होना पड़ा। भला, दो घोड़ों पर एक साथ चढ़ कर उन्हें कौन, अपनी इच्छा के अनुसार, दौड़ा सकता है? फिर, ऐसा भी कौन होगा जो वेश्या के गर्भ से उत्पन्न हुए पुत्र को अपनी गोदी में लेने की इच्छा करेगा। कवि का कहना है कि संसार सदा प्रपंच की रचना में पड़कर काल का ग्रास होता रहता है। अतएव, इन सारी बातो को समझ-बूझ कर ही, मैंने श्री राधाकृष्ण की युगल मूर्ति के सामने अपना सिर झुकाया।

करने के उपरांत भी भेंट न हो सकने के कारण, अंत में, निराश हो भगवान् की शरण में जाना पड़ा था "निराशः सुखी पिंगलावत्", कदाचित्. उसी कथा के आधार पर प्रसिद्ध है।

[1] वही, पृष्ठ ४६

नन्ददास की 'रूपमंजरी'

[१]

नन्ददास 'अष्टछाप' के प्रसिद्ध आठ भक्त कवियों में से अन्यतम थे। इनके विषय में 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास ने लिखा है कि ये 'लीला पद एव रसरीति के गंथों की रचना में निपुण थे, सरस उक्ति तथा भक्तिरस के गान के लिए प्रसिद्ध थे, रामपुर ग्राम के रहने वाले थे और चन्द्रहास नामक किसी व्यक्ति के बड़े भाई थे'।[१] परंतु इस कथन से न तो नन्ददास के जीवन-काल पर प्रकाश पड़ता है और न इनके जन्मस्थान वा परिवार के ही संबंध में कोई निश्चित परिचय मिलता है। उक्त 'भक्तमाल' पर लिखी गई प्रियादास की टीका अथवा ध्रुवदास की 'भक्त नामावली' जैसी रचनाओं से भी कुछ पता नहीं चलता। 'अष्टछाप' वाले भक्त कवियों में से विट्ठलनाथ के शिष्यों का विवरण देने वाली 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' से जान पड़ता है कि ये नन्ददास तुलसीदास के छोटे भाई थे और सदा विषयों में अनुरक्त रहा करते थे। एक बार जब ये द्वारकापुरी की यात्रा करने निकले थे तो ये मार्ग में एक क्षत्रिय की रूपवती स्त्री को देखकर उस पर आसक्त हो गए और जब उसके परिवार वाले अपना गाँव छोड़कर गोकुल की ओर चले तो उनके साथ ये भी हो लिए। बीच में जब ये लोग यमुना नदी तक पहुँचे, इन्हें गोस्वामी विट्ठलनाथ के दर्शन हो गए जिन्होंने इन्हें दीक्षित कर दिया। तुलसीदास को जब इनका पता चला तो उन्होंने इन्हें काशी बुला भेजा, किंतु ये वहाँ नहीं गए और यहीं रहकर ग्रन्थ-रचना करने लगे।[२] 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' में एक अन्य स्थल[३] पर यह भी

---

[१] 'भक्तमाल' (रूपकला संस्करण), पृष्ठ ६०२

[२] 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' (डाकोर संस्करण), पृष्ठ २८-२९

[३] वही, पृष्ठ ३८९-७

लिखा है कि किसी हिंदू राजा की पुत्री रूपमंजरी थी जो अकबर बादशाह की व्याही दासी थी; यह अपने उस पति को स्पर्श नहीं करती थी, किंतु नन्ददास के यहाँ गुप्तरूप से मिलने जाया करती थी। अकबर इनसे भेंट करने के उद्देश्य से व्रजमंडल आया और दो दिन पीछे का समय इसके लिए निश्चित हुआ। किंतु इसी बीच रूपमंजरी के यहाँ स्वयं गोबर्धननाथ जी को भोग लगाते देखकर ये अत्यंत प्रभावित हो गए थे। अतएव, अकबर के कुछ प्रश्न पूछते ही इन्होंने उत्तर देने के बदले अपना शरीर त्याग कर दिया और इस वृत्तांत को सुनते ही रूपमंजरी भी चल बसी।

पता चलता है कि गोस्वामी विट्ठलनाथ ने इनकी तथा रूपमंजरी की मृत्यु के अनंतर, दोनों की प्रशंसा की थी। 'श्री गोवर्धननाथ जी की प्राकट्य वार्ता' से यह भी विदित होता है कि इन्होंने श्रीनाथ जी के सम्मुख कीर्त्तन किया था, श्रीनाथजी की सेविका रूपमंजरी के साथ इनकी मित्रता थी और उसके लिए इन्होंने 'रसमंजरी' की रचना भी की थी।[1] नन्ददास ने अपने किसी 'रसिक मित्र' का उल्लेख अपनी दो-तीन रचनाओं में किया है और इनके कथन से जान पड़ता है कि इन्होंने उन्हें, उस प्रिय मित्र की प्रेरणा से ही, निर्मित करने का विचार किया होगा। उदाहरण के लिए, 'रास पञ्चाध्यायी' के एक स्थल[2] पर वे कहते हैं,

'परम रसिक इक मीत मोहि तिन आज्ञा दीन्ही।
ताते मैं यह कथा जथामति भाषा कीन्ही ॥१६॥

तथा 'भाषा दशम स्कंध' में भी ये इसी प्रकार कहते हैं,

परम विचित्र मित्र इक रहै। कृष्ण चरित्र सुन्यो सो चहै॥
तिन कही दशम स्कंध जुआहि। भाषा करि कछु बरनो ताहि॥[3]

---

[1] 'नंददास ग्रंथावली' (व्रजरत्नदास संपादित, भूमिका), पृष्ठ १६

[2] वही, (मूल) पृष्ठ ४

[3] वही, पृष्ठ २१७

और उक्त 'रसमंजरी' में भी ये यही कहते दीख पड़ते हैं,

एक मीत हम सों अस गुन्यो । मै नाइका भेद नहिं सुन्यो ॥

× × ×

तासों नन्द कहत तब ऊतरू । मूरख जनमन मोहित दूतरू ॥[1]

परंतु नन्ददास के किसी अन्य घनिष्ठ मित्र का पता उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर नहीं चलता । इसलिए अनुमान किया जाता है कि इनका वह 'परम रसिक मीत' रूपमंजरी ही रही होगी जिसके अनुरोध से इन्होंने उक्त रचनाएं की होंगी । इतना ही नहीं, नन्ददास की अन्यतम रचना 'रूपमंजरी' को देखने से यह भी प्रतीत होता है कि उसकी नायिका भी उपर्युक्त रूपमंजरी ही है और उसकी सहचरी इंदुमति स्वयं नन्ददास के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है । इस रचना का कवि नायिका का सौंदर्य वर्णन करते समय स्वयं कह देता है—

'रूपमंजरी छवि कहन, इंदुमती मति कौन' ।[2]

फिर भी नन्ददास के निवास-स्थान रामपुर अथवा इनके जीवन-काल की समस्या पर इन बातों द्वारा प्रकाश नहीं पड़ता है । उत्तर प्रदेश के एटा जिले में, सोरों के निकट, एक गांव रामपुर नाम का वर्त्तमान है जिसे श्यामपुर भी कहते हैं । सोरों के किसी सज्जन के पास 'सूकर क्षेत्र माहात्म्य', 'वर्षफल' तथा 'राम चरित मानस' की हस्तालिखित प्रतियां सुरक्षित हैं जिनमें से प्रथम के अंत में उसके रचयिता कृष्णदास ने अपनी वंशावली दी है और उससे पता चलता है कि वह रामपुर वाले नन्ददास का ही पुत्र था । उस वंशावली द्वारा इतना और भी प्रकट होता है कि नन्ददास के पिता जीवाराम आत्माराम के छोटे भाई थे जो तुलसीदास के पिता थे, नन्ददास के भाई का नाम चन्द्रहास था और उनका वंश सुकुल कहलाकर प्रसिद्ध था। तुलसीदास का प्रसिद्ध 'रामचरित मानस' रचयिता तुलसीदास होना तथा नन्ददास का वल्लभसंप्रदाय में दीक्षित होना तक

[1] **'नंददास ग्रंथावली' (व्रजरत्नदास संपादित, मूल) पृष्ठ १४४**

[2] **वही, पृष्ठ १२४**

इस ग्रंथ से प्रमाणित होता है।[1] उक्त दूसरा अर्थात् 'वर्षफल' ग्रंथ भी कृष्णदास की ही रचना है और उसमें भी उपर्युक्त वंशावली संबंधी कुछ संकेत मिलते हैं। इस रचना से इतना और भी स्पष्ट हो जाता है कि रामपुर नाम को 'श्याम पुर' में संभवतः नन्ददास ने ही परिवर्त्तित किया था।[2] तीसरा ग्रंथ केवल खंडित रूप में है और उसमें बाल, अयोध्या तथा अरण्यकांड के ही अंश विद्यमान हैं, किंतु उसकी अरण्यकांड वाली पुष्पिका से पता चलता है कि वह प्रति उक्त कृष्णदास के ही लिए लिखी गई थी जो सोरोंक्षेत्र के निवासी थे। बालकांड की पुष्पिका में कृष्णदास को 'नन्ददास पुत्र' भी बतला दिया है। 'रामचरितमानस' की ये खंडित प्रतियां सं० १६४३ शाके १५०८ में लिखी कही गई हैं। इसी प्रकार उक्त 'सूकर क्षेत्र माहात्म्य' का रचना-काल 'सोरह सौ सत्तर प्रमित सम्वत्' तथा 'वर्षफल' का 'सोरह सौ सत्तामनि विक्रम के वर्ष' दिया हुआ है[3] और इन तीनों संवतों अर्थात् १६४३, १६५७ एवं १६७० से प्रतीत होता है कि इन कृष्णदास का जीवन-काल विक्रम की १७ वीं शताब्दी है। अतएव, यदि ये सभी प्रतियां प्रामाणिक हैं तो कृष्णदास के पिता नन्ददास का जीवन-काल भी उसी में वा कुछ पहले हो सकता है।

'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास का समय सं० १६४० एवं सं० १६८० के बीच समझा जाता है जिससे वे उक्त कृष्णदास के समकालीन सिद्ध होते हैं और उनके उपर्युक्त कथन के अंतर्गत आने वाले 'रामपुर' 'चंद्रहास', आदि के संकेतों की पुष्टि हो जाती है। फिर भी कृष्णदास की रचनाओं द्वारा जो प्रश्न तुलसीदास की जीवनी के संबंधमें उठता है उसका समाधान नहीं हो पाता। तुलसी दास के जीवन-चरित से संबंध रखने वाले कई ग्रंथों का पता इधर चला है जो

[1] डा० दीनदयालु गुप्त : 'अष्टछाप और वल्लभसंप्रदाय' (सम्मेलन, प्रयाग) पृष्ठ ६०१ पर उद्धृत अंश के आधार पर

[2] वही, पृष्ठ ६०३

[3] वही, पृष्ठ ६०४ पर उद्धृत

प्रधानतः दो भिन्न-भिन्न मतों के हैं। 'मूल गुसाईं चरित्र' से विदित होता है कि वे राजापुर जिला बांदा के मूल निवासी थे और कोई 'नन्ददास कनौजिया' उनके गुरु-भाई थे जो उनसे इसी नाते बड़े प्रेम भाव के साथ मिले थे। जैसे,

नंददास कनौजिया प्रेममढ़े। जिन सेष सनातन तीर पढ़े॥
सिच्छा गुरु बंधु भये तेहिते। अति प्रेम सो आय मिले यहिते॥[१]

यह घटना क्रमानुसार सं० १६४६ के पीछे की जान पड़ती है। उधर तुलसीदास की पत्नी कही जाने वाली रत्नावली विषयक 'रत्नावली चरित्र' से प्रकट होता है कि वे तथा नन्ददास दोनों रामपुर के किसी सनाढ्य वंशी पितामह के पौत्र थे और एक साथ पढ़ते थे। जैसे,

तहां रामपुर के सनाढ्य। शुकुल वंश घर द्वै गुनाढ्य॥
तुलसीदास अरु नंददास। पढ़त करत विद्या विलास॥
एक पितामह पौत्र दोउ। चंद्रहास लघु अपर सोउ॥[२]

जिससे उक्त कृष्णदास संबंधी मत की पुष्टि होती है। इस प्रकार तुलसीदास और नन्ददास का समकालीन एवं गुरु भाई तक होना सिद्ध किया जा सकता है, किंतु अन्य बातें संदिग्ध रह जाती हैं। नन्ददास के जीवन वृत्त का आधार समझी जाने वाली सभी सामग्रियों की अभी तक पूरी परीक्षा नहीं की जा सकी है। किंतु उपलब्ध ग्रंथों तथा संकेतों के साक्ष्य पर जो उनका जीवन-काल सं० १५६० से सं० १६३६ तक अनुमान किया जाता है[3] वह तथ्य से अधिक दूर नहीं जान पड़ता और उसे तब तक स्वीकार कर लिया जा सकता है।

नन्ददास की रचनाओं के संबंध में नाभादास ने लिखा है कि ये 'लीला-पद' एवं 'रस-रीति' के ग्रंथों के निर्माण में निपुण थे। परंतु उन्होंने उनके नाम

---

[१]वेणीमाधवीदास : 'मूल गुसाईं चरित' (गीता प्रेस, गोरखपुर) पृष्ठ २६
[२]डा० दीनदयालु गुप्त : 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय' (सम्मेलन, प्रयाग) पृष्ठ २६६ पर उद्धृत
[3]वही, पृष्ठ २६१-२

नहीं दिये हैं और न अन्य किसी संकेत के आधार पर उनकी वास्तविक संख्या का पता चलता है। परंपरानुसार इनके २८ ग्रंथों तक के नाम सुने जाते हैं जिनमें से सभी उपलब्ध नहीं हैं और जो मिलते हैं उनमें से भी सभीकी प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं। नन्ददास 'अष्टछाप' के कवि एवं वल्लभ मतानुयायी कृष्ण भक्त थे। अतएव, इनकी रचनाओं में प्रधानता कृष्णभक्ति के ही विषय की पायी जाती है और उसके अनंतर कृष्णलीला की चर्चा मिलती है। किंतु, जैसा कि इनके जीवनवृत्त की कतिपय बातों से प्रकट होता है, ये एक पूरे रसिक जीव भी रह चुके थे। इसलिए इनकी कुछ रचनाओं में रस एवं पांडित्य का भी वर्णन हुआ है और इन्होंने अपनी एकाध पुस्तकों में कोश का विषय ला दिया है। जान पड़ता है इन्होंने, सर्वप्रथम, रसरीति एवं कोश विषयक ग्रंथों को ही रचना की थी और उसके पीछे क्रमशः कृष्णलीला तथा कृष्णभक्ति पर लिखा था। फलतः इनके सर्वमान्य १४ ग्रंथों का रचना क्रम इस प्रकार दिया जा सकता है। १. रसमंजरी २. अनेकार्थमंजरी ३. मानमंजरी वा नाममाला ४. दशमस्कन्धभाषा ५. श्यामसगाई ६. गोवर्द्धनलीला ७. सुदामाचरित्र ८. विरहमंजरी ९. रूपमंजरी १०. रुक्मिणीमंगल ११. रासपंचाध्यायी १२. भँवरगीत १३. सिद्धान्त पंचाध्यायी तथा १४. पदावली। इनमें से 'पदावली' वस्तुतः किसी एक समय की ही रचनाओं का संग्रह नहीं मानी जा सकती। इनके ये सभी ग्रंथ ग्रंथावली के रूप में काशी एवं प्रयाग से प्रकाशित हो चुके हैं और इन सभीके विषय में अनेक बार न्यूनाधिक चर्चा भी की जा चुकी है।

[२]

नन्ददास की उपर्युक्त रचनाओं में से इनकी 'रास पंचाध्यायी' एवं 'भंवरगीत' अधिक प्रसिद्ध हैं। अन्य के बहुत लोग नाम तक नहीं जानते और न उनके संबंध में अधिक जानकारी प्राप्त करने को कभी उत्सुकता हो प्रदर्शित करते हैं। फिर भी ये किसी-न-किसी दृष्टि से सभी महत्त्वपूर्ण हैं और हिंदी-साहित्य की भक्तिकालीन एवं रीतिकालीन रचनाओं में इन्हें अच्छा स्थान दिया जा सकता है। नन्ददास की ग्रंथावली के अंतर्गत इनकी पांच ऐसी रचनाएं

आती हैं जिनके अंत में 'मंजरी' शब्द लगा हुआ है। ये इसी कारण, कभी-कभी 'पंचमंजरी' नाम से भी अभिहित की जाती हैं और इस नाम से इनका प्रकाशन भी किया जा चुका है। इन पाँचों अर्थात् 'रसमंजरी', 'अनेकार्थ-मंजरी', 'मानमंजरी', 'विरहमंजरी' एवं 'रूपमंजरी' का एक संग्रह, सर्वप्रथम, सं० १९४५ वि० में जगदीश्वर प्रेस, बंबई से छपा था और फिर इन्हींका प्रकाशन सरस्वती प्रेस, बंबई से सं० १९७३ में भी हुआ था। इनके किसी एक संग्रह का अहमदाबाद से भी प्रकाशित होना कहा जाता है, किंतु उसका कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। इन पाँचों में से 'रसमंजरी' का वर्ण्य विषय नायक-नायिका भेद है और यह संभवतः किसी भानु कवि की संस्कृत 'रसमंजरी' का रूपांतर है। 'अनेकार्थमंजरी' का दूसरा एक नाम 'अनेकार्थमाला' भी है और उसमें एक एक शब्द के कई भिन्न-भिन्न अर्थ दिये गए हैं। 'मानमंजरी' का भी इसी प्रकार एक दूसरा नाम 'नाममाला' है और उसमें पर्य्यायवाची शब्दों का संग्रह है। किंतु उसकी एक विशेषता यह भी है कि उसमें मानिनी राधा का भी वर्णन आ जाता है। 'विरहमंजरी' के अंतर्गत एक व्रजाङ्गना की विरह-दशा का वर्णन है जो अधिकतर रूढ़िगत विरह-वर्णनों के ही अनुसार है। परंतु इन पाँचों में सबसे उत्कृष्ट एवं महत्त्वपूर्ण 'रूपमंजरी' है जिसमें प्रेम, सौंदर्य, विरह-दशा, भक्ति आदि का वर्णन एक आख्यानक के द्वारा किया गया है। इस रचना की एक अन्य विशेषता यह भी है कि इसमें ग्रंथ-रचयिता के व्यक्तिगत जीवन एवं सिद्धांतों पर भी पूरा प्रकाश पड़ता है तथा इसे हम हिंदी की प्रेमाख्यान-परंपरा के उदाहरण में भी प्रस्तुत कर सकते हैं।

प्रेमाख्यान की परंपरा नन्ददास के बहुत पहले से चली आ रही थी और इसके एक से अधिक रूप थे। राजस्थान एवं पंजाब की ओर यह प्रचलित लोकगीतों के रूप में दीख पड़ती थी और कहीं-कहीं इसका रंग-ढंग पौराणिक रचनाओं का भी रहा करता था। हिंदी-साहित्य के इतिहास के प्रारंभिक युग में इसे हम कभी-कभी किसी ऐतिहासिक नायक और उसकी नायिका की प्रेमगाथा के रूप में भी पाते हैं और अन्यत्र यह किसी प्रेमी वा प्रेमिका द्वारा भेजे गए संदेशों की कथा बनकर दीख पड़ती है। ऐसे प्रेमाख्यानों के उदाहरण में हम

'ढोला-मारवणी', 'ससि-पूनो', 'शाकुंतल आख्यान' 'बीसलदेव रासो' और 'संदेश रासक' के नाम दे सकते हैं। इनके सिवाय हमें जैन साहित्य के अंतर्गत 'सदयवत्स सावलिंगा' जैसी प्रेमकथाएं भी मिलती हैं जिनका धार्मिक उद्देश्य है।[1] परंतु इन सबसे प्रसिद्ध प्रेमगाथा-परंपरा उन कवियों की रचनाओं में दीख पड़ती थी जो मुस्लिम और सूफ़ी थे। इसका आरंभ संभवतः विक्रम की चौदहवीं वा पंद्रहवीं शताब्दी में किसी समय हुआ था और इसकी सर्वप्रथम उपलब्ध रचना 'चंदायन' समझी जाती है जिसे किसी मुल्ला दाऊद ने फ़ारसी के मसनवी ढंग पर हि० सन् ७८१ अर्थात् सं० १४३६ में लिखा था। तबसे इस प्रकार की रचनाओं की एक नियमित परंपरा-सी चल निकली और नन्ददास के समय तक इसमें क़ुतबन की 'मिरगावति' (सं० १५६०) जायसी की 'पदुमावति' (सं० १५९७), मंझन की 'मधुमालति (सं० १६०२) एव 'रज्जन' की 'प्रेमवनजोवनिरंजन' जैसी रचनाएं प्रकाश में आने लगीं। 'मधुमालति' की कथा को लेकर, सं० १६०० के लगभग, किसी कवि ने एक रचना भारतीय पद्धति के अनुसार भी की थी। फिर उसी ढंग की कहानियाँ, पीछे चलकर शेख आलम, चतुर्भुजदास कायस्थ, बोधा कवि आदि ने भी रच डाली। इस प्रकार नन्ददास के सामने उस समय उद्देश्य के अनुसार, प्रधानतः दो प्रकार की प्रेम कहानियों का आदर्श था। एक वर्ग की कथाएं कोरी साहित्यिक, सामाजिक वा पौराणिक रूप में रहा करती थीं और दूसरे वर्ग की कहानियां का उद्देश्य धार्मिक प्रचार भी रहा करता था। जैन साहित्य एवं सूफ़ी साहित्य में इस दूसरे वर्ग की प्रेम-गाथाओं की परंपरा चल चुकी थी, वैष्णव साहित्य में नहीं थी। नन्ददास ने इसे कदाचित् सर्व प्रथम, अपनी प्रेमाभक्ति के निरूपणार्थ अपनाया और इसके लिए 'रूपमंजरी' की रचना की। इसमें इन्होंने न केवल प्रेम-कहानी के विषय का ही आधार लिया अपितु उसका ढाँचा भी अपनाया जो सूफ़ियों के यहाँ दोहा-चौपाई द्वारा निर्मित हुआ था।

'रूपमंजरी' का कथानक बड़ा नहीं है और न उसके किसी अंग को

[1] **अगरचंद नाहटाः 'राजस्थानभारती' (सं० २००७), पृष्ठ ४१-६६**

अधिक विस्तार दिया गया है। उसमें केवल एक रूपवती स्त्री द्वारा लौकिक प्रेम का परित्याग करके श्रीकृष्ण के प्रति अलौकिक प्रेम में लग जाना मात्र दिखलाया गया है। कथा का सारांश इस प्रकार दिया जा सकता है :—निर्भयपुर के राजा धर्मधीर की पुत्री का नाम रूपमंजरी था और वह अत्यंत सुंदरी थी। जब वह विवाह के योग्य हुई तो उसके माता पिता ने उसके अनुरूप कोई सुयोग्य वर ढूँढ़ने का विचार किया। तदर्थ उन्होंने इस काम को किसी ब्राह्मण के सिपुर्द किया जो लोभी और विवेकहीन था। उसने रूपमंजरी का विवाह किसी 'क्रूर' और 'कुरूप' वर से करा दिया। रूपमंजरी के माता-पिता को इसका बहुत दुःख हुआ और वह स्वयं भी अपने पति से उदासीन रहने लगी। उसकी एक सखी थी जिसका नाम इंदुमती था। वह उसके सौंदर्य पर मुग्ध थी तथा उसे प्यार भी करती थी। इंदुमती सदा इस चिंता में रहने लगी कि किस प्रकार उसकी सखी को कोई साधन उसके कष्टों के निवारणार्थ, मिल जाय। इस लोक में उसे रूपमंजरी के अनुरूप कोई पति नहीं दीख पड़ा और न बिना किसी उपयुक्त पति के उसे पूर्ण शांति ही मिल सकती थी। अतएव, उसने श्रीकृष्ण के अलौकि रूप की ओर उसका ध्यान आकृष्ट करने के प्रयत्न किये और उनके प्रति उसके भीतर प्रेमभाव को जागृत करके उसे, उन्हें उपपति के रूप में वरण कर लेने के लिए, उत्साहित भी कर दिया। इंदुमती श्रीकृष्ण भगवान् से सदा इस बात की प्रार्थना भी करती रही कि मेरी सखी पर कृपा कीजिए। रूपमंजरी ने श्रीकृष्ण को स्वप्न में देखा और वह उनके रूप लावण्य पर आसक्त होकर उनके विरह में मरने लगी। इंदुमती ने उसे सान्त्वना देकर बार-बार आशान्वित किया। फिर दूसरे स्वप्न में उसे उनके साथ संयोग का भी सुख मिल गया जिससे वह आनंद विभोर हो गई। अंत में वह एक दिन अपनी सखी से भी छिपकर वृन्दावन चली गई जहाँ उसे ढूंढ़ती हुई इंदुमती भी पहुँच गई और दोनों का निस्तार हो गया।

नन्ददास ने इस कहानी के आधार पर अपना आख्यानक आरंभ करने के पहले ही कह दिया है,

'परम प्रेम पद्धति इक आही। 'नंद जथामति बरनत ताही ॥'

और फिर ये यह भी कहते हैं,

'अब हौं बरनि सुनाऊं ताही। जो कछु मो उर अंतर आही॥'

जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये कोई काल्पनिक कथा ही कहने जा रहे हैं। फिर भी कुछ लोग, 'रूपमंजरी' नाम की समानता के कारण, इस प्रेमाख्यान की नायिका को अकबर की लौंडी मानकर ही चलना चाहते हैं और कथानक की प्रत्येक बात को उसके जीवन-वृत्त के भीतर ढूंढने का प्रयत्न करते हैं। उनका अनुमान है कि ब्राह्मण ने रूपमंजरी का विवाह अकबर से अथवा उसके किसी दर्बारी के साथ करा दिया था जो उसे तथा उसके माता-पिता को अनुचित जान पड़ा था। इसी कारण रूपमंजरी को दुःख का अनुभव हुआ और वह अपनी सखी अथवा मित्र नन्ददास की सहायता से कृष्ण भक्त बन गई। परंतु इस बात का कोई भी संकेत आख्यानक में नहीं दीख पड़ता। केवल नन्ददास इंदुमती के रूप में प्रयत्न करते जान पड़ते हैं। यह संभव है कि रूपमंजरी अकबर के यहाँ कोई रूपवती दासी रही हो जो, अंत में, श्रीराधा जी की सेविका भी बन गई हो। ऐसी दशा में उसका नन्ददास के साथ गाढ़ा परिचय हो जाना और उनकी सहायता से पूर्णतः सुधर जाना असंभव नहीं है।

आख्यानक में कवि ने, सर्वप्रथम 'प्रेममय परमजोति' के 'नित्य' स्वरूप की वंदना की है और फिर प्रेम-पद्धति का परिचय दिया है। उसका कहना है कि उस 'रूपनिधि' तक पहुँचने के लिए दो मार्ग हैं जिनमें से एक 'नाद' का है और दूसरा 'रूप' का है। रूप का मार्ग अमृत एवं विष दोनों से व्याप्त है, अतएव जो 'नीरक्षीर विवेक' की सहायता लेता है वही भगवान् तक पहुँच पाता है। कवि ने इस रूपमार्ग के अमृतमय पार्श्व को ग्रहण कराने के उद्देश्य से ही आख्यानक की सृष्टि की है। इसका आरंभ निर्भयपुर और उसके राजा धर्मधीर के प्रशंसात्मक वर्णन से होता है और फिर वहाँ की राजकुमारी के सौंदर्य का बड़ा ही सरस विवरण दिया जाता है। तदनंतर केवल थोड़े से शब्दों द्वारा धर्मधीर तथा उसकी रानी के उसके लिए योग्य वर की खोज कराने की चर्चा कर दी जाती है। कह दिया जाता है कि उनके 'विप्र' ने धन लोभ के कारण उसे किसी 'कूर कुरूप कुँवर' के साथ व्याह दिया। फलतः इस अनमोल संबंध के कारण

वह सदा खिन्न रहने लगती है और उसको सहचरी इंदुमती भी उसके यौवनोचित सौंदर्य की अभिवृद्धि से प्रभावित होकर उसकी सहानुभूति में उसके लिए ईश्वर से प्रार्थना करने लगती है। धीरे-धीरे वह 'गिरिधर कुँवर' श्रीकृष्ण को ही उसके लिए सर्वथा अनुकूल वर मानकर उसका ध्यान उस ओर आकृष्ट करना चाहती है।

तदनुसार एक दिन इंदुमती रूपमंजरी को, 'गिरि गोधन' जाकर, 'गिरिधर पिय' की 'प्रतिमा' दिखला आती है जिसके प्रभाव में पड़कर किसी रात को सोते समय, वह अपनी चित्रसारी में स्वप्न देखती है कि मेरे ही अनुकूल 'इक सुंदर नाइक' आकर मेरे 'अधर' का 'खंडन' करता है। वह 'सितकार' करके इंदुमती के उन्मुख हो जाती है और उसकी दशा देखकर सभी घबड़ा उठती हैं। वह अपने प्रियतम के लावण्य का भरपूर वर्णन नहीं कर पाती और उसके वियोग में मतवाली-सी बनी डोलने लगती है। इंदुमती को इससे महान् आश्चर्य होता है वह इसे अपनी सखी का परम सौभाग्य मानती है और उसे क्रमशः वर्षा, शरद, हेमंत, शिशिर, बसंत एवं ग्रीष्म ऋतुओं में विविध प्रकार की सान्त्वना देती हुई उसकी अनुरक्ति को दृढ़तर करती चलती है। अंत में रूपमंजरी एक रात को फिर स्वप्न में देखती है कि वही पूर्व परिचित प्रियतम यमुना नदी के किनारे हाथ में वंशी लिये खड़ा है। वह इसे आकर गले लगा लेता है। अपने कुंज में ले जाता है। 'सुपेसल सेज' पर सुलाता है और दोनों का 'प्रथम समागम' निष्पन्न हो जाता है। फिर वह लौटकर घर आती है। श्रीब्रजरत्नदास द्वारा संपादित 'नंददास ग्रंथावली' की 'रूपमंजरी' के पाठानुसार, उसकी 'संगति' से इंदुमती भी सुधर जाती है। किंतु 'सरस्वती प्रेस', बंबई की प्रति के अनुसार नायिका रूपमंजरी फिर कृष्ण के नित्य रास में भी प्रवेश कर जाती है और उसकी खोज में घूमती हुई इन्दुमती, अंत में, उसी रास में उससे भेंट कर पाती है। फिर उस प्रति में कवि ने रूपमंजरी के कुछ अलंकारों का भी वर्णन किया है।

[३]

'रूपमंजरी' के कथानक तथा उस आख्यानक के अंतर्गत पाये जाने वाले

उसके विकसित रूप से भी यह कहीं नहीं लक्षित होता कि उसके रचयिता का उद्देश्य कथाभाग को किसी प्रकार का महत्त्व देना है। निर्भयपुर नायिका की जन्मभूमि एवं उसका क्रीड़ा-स्थल होता हुआ भी केवल आरंभ में एक झलक दिखलाकर फिर कहीं विलीन हो जाता है। धर्मधीर उसका पिता तथा उसकी माता उसके लिए योग्य वर की चिंता करते हैं, किंतु एक निरे 'विप्र' के मूर्खता-पूर्ण कार्य पर संतोष कर सदा के लिए बैठ जाते हैं। रूपमंजरीके 'कूर कुरूप' पति का प्रसंग केवल नाम मात्र के लिए ही आता दीख पड़ता है। उसकी सखी इंदु-मती उसके साथ बड़े विचित्र ढंग से सहानुभूति प्रदर्शित करती है और उसके लिए प्रत्यक्ष रूप से बहुत कम कार्य करती हुई जान पड़ती है। इस प्रबंध रचना में वस्तुत: केवल दो ही पात्र हैं और वे भी इसकी नायिका रूपमंजरी तथा उसकी सहचरी इंदुमती हैं। इसका नायक श्रीकृष्ण कभी प्रत्यक्ष आता नहीं जान पड़ता और उसके सभी कार्य अत्यंत गौणरूप से सब स्वप्नलोक में होते हैं। इस रचना के अंतर्गत न तो घटनाओं का विस्तार है और न उनकी विविधता है; घटना-चक्र का वैसा कोई महत्त्व ही यहाँ नहीं है। कथावस्तु की प्रमुख पात्री रूपमंजरी का चरित्र-चित्रण भी एकांगी बनकर ही दीखता है और दृश्य कोरे उद्दीपन के के लिए आते हैं।

कवि ने नायिका का सौंदर्य-वर्णन करते समय अपने कलानैपुण्य का अच्छा परिचय दिया है। वह उसके नाम 'रूपमंजरी' के अनुसार उसके रूपगत सौंदर्य की ओर ही अधिक आकृष्ट है। उसके बालपन का रूप चित्रित करता हुआ वह उसे कभी 'जनु हिमवत वारी' अर्थात् पार्वती-सी सुंदरी कहता है तो कभी 'दुसरी मनहुँ समुद को बेटी' कहकर उसे लक्ष्मी की भाँति सर्वलक्षण सम्पन्ना ठहराता है और उसकी दीप्ति से ही उसके भवन का सदा प्रकाशित होता रहना बतलाता है। कवि के अनुसार उसका बालरूप एक ऐसा मनोहर दीपक है जिस पर नर-नारियों के नेत्र सदा पतंग बनकर गिरते हैं। फिर अज्ञात-यौवना बनकर जब वह सरोवर में स्नान करती है तो भ्रमर फूलों को छोड़कर उसके मुख कमल की ओर दौड़ पड़ते हैं। उसका रंग तपे स्वर्ण के समान गौर है, उसकी आँखें खंजन, मृग एवं मीनवत् चंचल है। वह इतनी कोमल है कि पान की

पीक उसके कंठ से होकर झलकती है। कवि ने रूपमंजरी के सौंदर्य का वर्णन करते समय द्युति, लावण्य, रूप, माधुर्य, कान्ति, रमणीयता, सुंदरता, मृदुता एवं सुकुमारता में से प्रत्येक को उसके शरीर का अंगीभूत मान लिया है और उन सभी का वर्णन पृथक्-पृथक् किया है। जैसे,

दुति तियतन अस दीन्हि दिखाई। सरद चंद जस झलमलताई॥
ललना तन लावन्य लुनाई। मुकताफल जस पानिप झांई॥
बिनु भूषन भूषित अंग जोई। रूप अनूप कहावै सोई॥
निरखत जाहि तृपति नहिं आवै। तन मैं सो माधुरी कहावै॥
ठाढी होति अँगन जब आई। तनकी जोति रहति छिति छाई॥
राजति राजकुँवरि तँह ऐसी। ठाढी कनक अवनि पर जैसी॥
देखी अनदेखी सी जोई। रमनीयता कहावै सोई॥
सब अंग सुमिल सुठौनि सुहाई। सो कहिए तन सुंदरताई॥
अमल कमल दल सेज बिछैये। ऊपर कोमल बसन डसैयें॥
तापर सोवत नाक चढ़ावै। सो वह सुकुमारता कहावै॥[1]

कृष्ण के सौंदर्य का वर्णन कवि ने दो स्थलों[2] पर किया है जिनमें से दूसरी जगह उनके ईश्वरत्व के अनुकूल है और ऐश्वर्य के रूप में है। नन्ददास का प्रेमिका के रूप-लावण्य पर उसके प्रियतम के सौंदर्य से अधिक ध्यान देना एक अनोखी-सी बात है और इसका समाधान केवल इसी बात से हो सकता है कि उसे अपने पति की 'कूरता' और 'कुरूपता' के विपरीत परम रूपवती सिद्ध करना है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि आख्यानक नन्ददास के आत्मचरित का ही एक अंश है और ये, अपनी प्रेयसी रूपमंजरी पर आसक्त हो चुकने के कारण, उसका रूप-वर्णन करते समय अपने को सँभाल नहीं सके हैं।

आख्यानक में उपर्युक्त सौंदर्योपासना विषयक वर्णनों के अतिरिक्त एक अन्य विशेषता 'उपपति रस' पर बल देने की है। अपने 'कूर-कुरूप' पति से

---

[1] **'नन्ददास ग्रंथावली' (व्रजरत्नदास संपादित), पृष्ठ १२४**

[2] **वही, पृष्ठ १२६ और पृष्ठ १३७**

असंतुष्ट रूप मंजरी को उसकी सखी इंदुमती इसी रस के प्रयोग द्वारा सुखी बनाना चाहती है। वह कहती है,

रसनि मैं जो उपपति रस आही। रस की अवधि कहत कवि ताही॥
सो रस जो या कुँवरिहि होई। तौ हौं निरखि जिऊ सुख होई॥[1]

अर्थात् कवियों द्वारा 'जारभाव' के रूप में प्रदर्शित माधुर्यभाव प्रेमरस की पराकाष्ठा का द्योतक है और वही रूपमंजरी के लिए ठीक है। इस 'उपपति रस' का भाव सर्व प्रथम, श्रीकृष्ण की 'प्रतिमा' के आधार पर जागृत होता है और फिर स्वप्न-दर्शन द्वारा उसका विकास होता है तथा गुण-श्रवण की सहायता से वह रूपमंजरी के हृदय में सदा के लिए घर कर लेता है। यह 'उपपति रस', एक विवाहिता की ओर से किसी अन्य पुरुष के प्रति उद्दिष्ट होने के कारण, सर्वथा निन्दनीय समझा जा सकता था। किंतु यहाँ पर यह किसी लौकिक पुरुष की अपेक्षा नहीं करता। इसका संबंध उस 'कुँवर कन्हाई' से है जो अलौकिक है।

धर अंबर ससि सूरज तारे। सर सरिता साइर गिरियारे॥
हम तुम अरु सब लोग लुगाई। रचना तिन ही देव बनाई॥[2]

अतएव, ऐसे प्रियतम के प्रति आकृष्ट और अनुरक्त रूपमंजरी को किसी सामाजिक कलंक की आशंका भी नहीं हो सकती। इसके सिवाय रूपमंजरी के स्वप्न-दर्शन में उस 'नवकिशोर' के आस पास की 'द्रुम बेलियाँ' तक उसे अपनी 'गीत' सी जान पड़ती है[3] जिससे प्रतीत होता है कि वह उसका मूलतः आत्मीय है और ऐसी दशा में उक्त लांछन के लिए यहाँ कोई स्थान भी नहीं है। रूपमंजरी को इस दशा में पाकर हमारा ध्यान एक बार मीरांबाई की ओर भी आकृष्ट हो जाता है जिसका कृष्ण प्रेम, गिरिधर गोपाल की किसी मूर्ति को ही देखकर उसके बचपन में जागृत हुआ था। फिर, उसके अपने पति की ओर से क्रमशः उदासीन होते जाने के कारण, तथा, संभवतः उन्हें स्वप्न-दर्शन में भी पाकर

---

[1] **'नंददास-ग्रंथावली' (व्रजरत्नदास द्वारा संपादित), १२४-२५**

[2] **वही, पृष्ठ १२७**

[3] **वही, पृष्ठ १२७**

दृढ़तर होता गया था। मीराँबाई के हृदय में भी किसी पूर्व परिचय का भाव बना रहा करता था किंतु उसे, रूपमंजरी की भाँति, किसीसे सहायता नहीं मिली, अपितु सदा उसे विरोधों का ही सामना करना पड़ा। पता नहीं, नन्ददास को, अपने इस आख्यानक की रचना करते समय, 'गिरिधर' की ही इस दूसरी प्रेमिका का ध्यान था वा नहीं। दोनों का प्रेमभाव पूर्वराग से आरंभ होता है, दोनों अपने पति की ओर उपेक्षा का भाव रखती हैं, दोनों दशाओं में कृष्ण-रूप का वर्णन प्रायः एक ही प्रकार-सा जान पड़ता है, दोनों का माधुर्यभाव दृढ़ एवं एकांत-निष्ठ है और दोनों अंत में अपने प्रियतम के साथ मिलकर कृतकृत्य हो जाती हैं। एक अपना वर्णन स्वयं करती है, किंतु दूसरी की प्रेम-गाथा उसकी उस सहचरी के द्वारा कही जाती है जो उसकी सभी प्रकार से आत्मीय तथा पथ-प्रदर्शिका भी है।

नन्ददास के इस आख्यानक में, प्रेमगाथा-परंपरा की सूफ़ी-पद्धति की भाँति, कथा-रूपक की भी एक झलक मिल सकती है। कवि ने जो इसमें स्थान एवं व्यक्ति के नाम दिये हैं वे प्रायः सभी किसी न किसी रूप में सार्थक से जान पड़ते हैं। 'निर्भयपुर' का नाम पढ़ते ही हमें किसी साधक वा भक्त की उस मनोदशा का भान होने लगता है जो उसके चित्त के शांत होने की सूचना देती है। वहाँ के राजा 'धर्मधीर' का नाम पढ़कर हमें जान पड़ता है कि कवि उस भक्त के लिए निज धर्म के आधार पर धीर चित्त होकर साधना में प्रवृत्त होना अत्यंत आवश्यक समझता है। इसी प्रकार जिस कृष्ण के साथ कवि रूपमंजरी का संयोग कराना चाहता है उसे वह परमात्मा से अभिन्न एवं ज्योतिर्मय कहता है। इसलिए कथा के आरंभ में उसे 'रूपनिधि' का नाम दे देना हमें इस बात को समझने के लिए पहले से ही तैयार कर देता है कि आगे आने वाला नायिका का 'रूपमंजरी' नाम भी यथार्थतः उसके उक्त परमात्मा का एक अंश वा आत्मा होने की सूचना देता है जिस कारण हमें उनके अंतिम मिलन में संदेह करने की कोई बात नहीं। रूपमंजरी की सहचरी इंदुमती का नाम भी कदाचित् उसके सांसारिक तमोमय संबंधों की ओर से रूपमंजरी की आसक्ति हटाकर उसे उचित पथ-प्रदर्शन द्वारा कल्याण की ओर उन्मुख और उद्योगशील बना देने के कारण ही है। अतएव,

कथानक को उक्त प्रकार से रूपक का रूप दे देने पर प्रतीत होगा कि कवि का प्रमुख उद्देश्य आध्यात्मिक है। वह अपनी रचना द्वारा इस बात को प्रतिपादित करना चाहता है कि भक्त को भगवान् का सानिध्य प्राप्त करने के लिए चाहिए कि वह शांत चित्त होकर उस 'रूपनिधि' की विधिवत् उपासना धैर्यपूर्वक करता चले और अपने शुभचिंतक गुरु के सदुपदेशों का भी अनुसरण करे। उस दशा में उसके हृदय में सांसारिक प्रपंचों की ओर से आप से आप विरक्ति हो जाती है और समय-समय पर स्वयं भगवान् भी उसे सहायता देने लगते हैं जिससे उत्साहित होकर अंत में, वह अपना अभीष्ट प्राप्त कर लेता है।

परंतु, फिर भी इसकी कथा में सूफ़ी-कहानियों में प्रदर्शित की गई साधकों की उन कठिनाइओं का सर्वथा अभाव है जिनके कारण उनके प्रतीक नायकों पर अनेक प्रकार के संकट आ पड़ते हैं और वे उन्हें झेलने को विवश होते हैं। सूफ़ी प्रेम-गाथा के प्रेमी जंगलों में भटकते हैं, समुद्रों पर तिरते फिरते हैं, युद्धों में घायल होते हैं, अपनी प्रेमपात्री से मिलकर भी बार-बार बिछुड़ जाते हैं और कष्ट सहते-सहते उनकी दशा दयनीय-सी हो जाती है। किंतु प्रेमिका रूपमंजरी ऐसी बाधाओं से मुक्त है। उसे इस प्रकार की स्थितियों में पड़ने की कभी आवश्यकता ही नहीं पड़ती। उसका प्रेमपात्र परोक्ष में रहता हुआ भी उसके लिए प्रत्यक्ष हो जाया करता है और वह यदि उससे विमुक्त भी होता है तो जैसे जान-बूझकर और उसके आत्म विकास के लिए ही। इसके सिवाय, सूफ़ी-परंपरा द्वारा स्वीकृत आदर्श के अनुसार साधक को किसी पुरुष के रूप में चित्रित किया जाता है और उसके साध्य भगवान् को स्त्री रूप दे दिया करते हैं। परंतु 'रूपमंजरी' की प्रेम-कहानी इसके विपरीत मार्ग को ग्रहण करती है और इसका साधक पुरुष न होकर स्त्री रूप में है। इसकी प्रेमिका रूपमंजरी को ही अपने लौकिक पति से विरक्ति हो जाती है और वह 'उस' अलौकिक को अपनाने के लिए आतुर हो उठती है, जो भारतीय परंपरा के अनुकूल है। 'रूपमंजरी' के आख्यानक में, इसी प्रकार किसी सिद्धहस्त गुरु वा पथ-प्रर्शदक का भी पता नहीं चलता। इसकी नायिका को परामर्श देने वाली उसकी एक सहचरी मात्र है जो उसके साधना-मार्ग की सफ-लता के रहस्य से स्वयं परिचित नहीं, उसे रूप मंजरी द्वारा उपलब्ध स्वप्न-दर्शन

से आश्चर्य हो जाता है और वह सोचने लगती है,

अनेक जनम जोगी तप करै । मरि पचि चपल चित्त कहुँ धरै ॥
सो चितु लै उहि वोर चलावै । तौ वह नाथ हाथ नहि आवै ॥
अब गोपिन कौं सो हितु होई । तब कहुँ जाय पाइये सोई ॥
कवन पुन्य पा तियकै माई । नन्द सुवन पिय सौं मिलि आई ॥ [1]

वास्तव में 'रूपमंजरी' के आख्यानक में कथारूपक की वह दुहरी प्रवृत्ति नहीं जो दो भिन्न-भिन्न रूपों में समानांतर बढ़ती हुई लक्षित हो ।

'रूपमंजरो' की रचना का उद्देश्य 'परम प्रेम पद्धति' का वर्णन करना है जिसे नन्ददास ने उसके आरंभ में ही स्पष्ट कर दिया है। परंतु ये इसे सूफ़ी कवियों के अनुकरण में, किसी काल्पनिक वा ऐतिहासिक प्रेमाख्यान का आधार लेकर नहीं कहना चाहते । इन्हें किसी प्रेम-कहानी का सांगोपांग विवरण देना नहीं है और न उसपर क्रमशः अपने प्रतिपाद्य विषय को घटाना है । इनकी रचना की कथा-वस्तु सीधी-सादी और छोटी-सी है और उसके पूर्ण विकास के लिए भी घटनाओं का निर्माण आवश्यक नहीं जो आख्यानक की नायिका वा मुख्य पात्री है वही रूप मंजरी नन्ददास की अभीष्ट प्रेमाभक्ति की वास्तविक साधि का भी है। उसके मात पिता वा जन्म-स्थान का परिचय तथा उसके जीवन-संबंधी साधारण व्यापारों के विवरण देना यहाँ अनिवार्य नहीं है। कवि केवल इसी बात को महत्त्व देना चाहता है कि वह परम रूपवती थी और कुरूप वर से विवाह हो जाने के कारण उसमें विरक्ति जगी । उसके इस भाव को दृढ़तर करने तथा उसे क्रमशः भगवान् कृष्ण की ओर उन्मुख करके उनके प्रति, पूर्ण अनुरक्त बना देने के लिए कवि को किसी व्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है जो यहाँ उसको सहचरी इंदुमती द्वारा पूरी हो जाती है और स्वप्न-दर्शन एवं होली खेलने वाली स्त्रियों के साथ उसकी बातचीत जैसी कुछ साधारण घटनाओं द्वारा उसके हृदय पर कृष्ण पूर्ण अधिकार जमा लेते हैं। रूपमंजरी का इस प्रकार शीघ्र सफल हो जाना स्वयं उसकी सखी इंदुमती को भी आश्चर्य में डाल देता है और आरंभ में गुरु-

[1] **'नंददास ग्रन्थावली' (ब्रजरत्न दास संपादित) पृष्ठ १२६**

वत् मार्ग सुझाने वाली अंत में उसके पीछे अनुसरण करने वाली बन जाती है। इस आख्यानक की एक अन्य विशेषता इस बात में भी है कि इसका रचयिता इसे अपने आत्मचरित के रूप में लिखता है। रूपमंजरी स्वयं उसीकी प्रेम-पात्री है जिसका सौंदर्य-वर्णन वह जी खोल कर करता है और फिर उसके भी प्रेमपात्र कृष्ण की ओर उसीके सहारे अग्रसर होता है। रचना के अंत में वह स्पष्ट कर देता है, "रूपमंजरी एवं गिरिधर की रसभरी लीला को वह 'निजहित' के लिए कह रहा है।" उसका अपना सिद्धांत यही जान पड़ता है,

जदपि अगम ते अगम अति, निगम कहत है जाहि।
तदपि रँगीले प्रेम तें, निपट निकट प्रभु आहि॥[1]

---

[1] **'नंददास ग्रंथावली' (व्रजरत्नदास संपादित) पृष्ठ १४३**

प्रेमी भक्त 'रसखान'

[१]

'रसखान' शब्द किसी व्यक्ति का मूल नाम न होकर उसका उपनाम-सा लगता है, किंतु यही सदा उसके लिए प्रयुक्त होता आया है। कहा जाता है कि रसखान जाति के मुसलमान थे और किसी कारणवश हिंदू धर्म के अनुयायी हो गए थे। कुछ लोग इन्हें 'सय्यद इब्राहीम पिहानी वाले'[१] कहा करते हैं और यह नाम इन्हें 'शिवसिंह सरोज' में भी दिया गया मिलता है।[२] परंतु इस विषय में अभी तक पूरी खोज नहीं हो पाई है जिस कारण कोई अंतिम निर्णय नहीं दिया जा सकता। अपने विषय में इन्होंने एक स्थल पर बतलाया है,

देखि गदर हित साहवी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहि वादसावंस की, ठसक छोरि रसखान ॥४८॥
प्रेम निकेतन श्रीवनहि, आइ गोवर्धन धाम।
लह्यो सरन चित चाहिकै, जुगल सरूप ललाम ॥४९॥
तोरि मानिनी ते हियो, फोरि मोहनी मान।
प्रेम देव की छविहि लखि, भये मियां 'रसखान' ॥५०॥[3]

जिससे प्रकट होता है कि ये कदाचित् किसी शाही घराने के भी रहे होंगे; दिल्ली

---

[१] 'भारत जीवन प्रेस' (काशी) में मुद्रित (सन् १९१९ ई०) 'सुजान रसखान' का मुख पृष्ठ

[२] 'शिवसिंह सरोज' (नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, सन् १९२६ ई०), पृष्ठ ४८१

[3] 'रसखान और घनानंद' (काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सन् १९२९), पृष्ठ १५

नगर में अधिक उत्पात देखकर इन्हें विरक्ति जगी होगी और ये गोवर्धनधाम में जाकर कृष्णभक्ति में लीन हो गए होंगे। इस परिचय से इतना और भी पता चलता है कि ये पहले किसी सुंदरी पर आसक्त भी रह चुके होंगे किंतु श्रीकृष्ण के सौंदर्य से प्रभावित होकर अंत में 'मियाँ' अर्थात् इसलाम धर्मानुयायी से 'रसखान' नामधारी हिंदू बन गए होंगे। परंतु इससे भी 'रसखान' के वास्तविक नाम के संबंध में कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

उपर्युक्त अवतरण के प्रथम दोहे से एक बात यह भी सूचित होती है कि इनका संबंध किसी शाही घराने से था, किंतु 'साहिवी हित' अथवा शासन के लिए दिल्ली नगर में राजविप्लव का दृश्य देखकर इन्हें अपनी 'ठसक' अर्थात् उच्चकुल की प्रतिष्ठा का मोह छोड़ देना पड़ा और इस प्रकार की विरक्ति इनमें 'छिनहिं' अर्थात् अकस्मात् आ गई। परंतु इस प्रकार का राजविप्लव कब हुआ इस बात का निश्चित पता देना कुछ कठिन जान पड़ता है। 'रसखान' की रचना 'प्रेमवाटिका' के रचना-काल से विदित होता है कि ये विक्रम की १७ वीं शताब्दी में वर्तमान थे और यदि वह इनकी अंतिम कृति हो तो, उसके पूर्वार्द्ध में भी ये रहे होंगे।

विधु सागर रस इंदु सुभ, बरस सरस रसखान।
'प्रेमवाटिका' रचि रुचिर, चिर हिय हरषि बखान ॥५१॥[1]

से स्पष्ट है कि इन्होंने उसे सं० १६७१ में लिखा था। जिस कारण इनका सं० १६५० से पहले तक भी रहना संभव कहा जा सकता है '२५२ वैष्णवन की वार्त्ता' से पता चलता है[2] कि इन्होंने गोस्वामी विट्ठलनाथ से दीक्षा ग्रहण की थी जिनका देहांत अनुमानतः सं० १६४२ के लगभग हुआ था[3] इसलिए इस काल के

---

[1] **'रसखान और घनानंद' (का० ना० प्र० सभा, सन् १९२९) पृष्ठ १६**

[2] **'२५२ वैष्णवन की वार्त्ता', (वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, सं० १९८२), पृष्ठ ४३२**

[3] **डा० दीनदयालु गुप्त 'अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय' (सम्मेलन, प्रयाग सं० २००४) पृष्ठ ७८**

पहले उपर्युक्त 'गदर' के होने तथा उनके हिंदू-धर्म ग्रहण करने की संभावना है। परंतु इसके आस-पास किसी ऐसी घटना का होना इतिहास से सिद्ध नहीं होता जिसे 'गदर' का नाम दिया जा सके और जिसके कारण दिल्ली नगर श्मसानवत् हो गया हो। इतना पता चलता है कि अकबर बादशाह (सं० १५९७-१६६२) के सौतेले भाई मिर्ज़ा मुहम्द हकीम ने उसके विरुद्ध कुछ षडयंत्र किये थे। जिस कारण उसे काबुल की ओर आक्रमण करके सं० १६३८ में दबाना पड़ा था। हकीम ने जिस समय अकबर के विरुद्ध पंजाब पर चढ़ाई कर दी थी उस समय उसके षड्यंत्र में सम्मिलित समझे जाने वाले कुछ लोग दंडित भी किए गये थे। इसका कारण सं० १६३८ के लगभग बड़े-बड़े नगरों में अशांति और उपद्रव का हो जाना कोई असंभव-सी बात नही थी। यदि यह व्यापक रूप में हुआ हो और कुछ काल के लिए अराजकता-सी फैल गई हो तो उसे 'गदर' का नाम देना कोई बड़ी बात नहीं थी और उसका मूल कारण शासन की बागडोर हस्तगत करने की चेष्टा ही थी, इसलिए उसे 'साहिबी' के लिए होने वाली भी कहा जा सकता था। 'रसखान' का जन्म-संवत् कुछ लोगों ने सं १६१५ माना है[1] और यह इन सभी बातों पर विचार कर लेने पर, ठीक भी कहा जा सकता है।

उपर्युक्त अवतरण के अंतिम दोहे में आते हुए "तोरि मानिनि ते हियो, मोरि मोहिनी-मान" जैसे शब्दों के आधार पर अनुमान किया जाता है कि इनकी कोई प्रेमपात्री भी रही होगी जिसके 'मान' से पहले पूर्ण प्रभावित हो जाते रहे होंगे। फिर भी पता नहीं कि वह स्त्री इनकी विवाहिता पत्नी थी अथवा इनकी कोई रूपवती प्रेयसी थी जिस पर ये अनुरक्त हो गए थे। इनकी पत्नी अथवा किसी संतान की भी कहीं पर चर्चा नहीं पायी जाती। प्रसिद्ध है कि ये किसी अविवाहिता स्त्री पर ही आसक्त हो गए थे और उसके हाथों की कठपुतली-से हो रहे थे। एक दिन जब ये 'श्रीमद्भागवत' का फ़ारसी अनुवाद पढ़ रहे थे इन्होंने गोपियों के विरह-वर्णन का प्रसंग पढ़ा और अकस्मात् उनके प्रियतम कृष्ण की

---

[1] चंद्रशेखर पांडे : 'रसखान और उनका काव्य' (सम्मेलन, प्रयाग, सं० १९९९) पृष्ठ २

ओर आकृष्ट हो गए। किंतु इससे 'गदर' वाली बात की पुष्टि नहीं होती इसी प्रकार उस जनश्रुति का भी कोई आधार नहीं जिसके अनुसार ये किसी कथा के अवसर पर कृष्ण के सुंदर चित्र को देखकर उस पर मुग्ध हो गए थे और कथा-वाचक के संकेत पर सबकुछ छोड़-छाड़कर वृंदावन चले गए थे। परंतु '२५२ वैष्णवन की वार्त्ता' के अनुसार ये, वास्तव में, पहले किसी बनिये के सुंदर लड़के पर आसक्त हो गए थे और लोगों के निंदा करने पर भी उसके पीछे-पीछे घूमते-फिरते तथा उसकी जूठी थाली में खाया-पिया करते थे। ये अंत में, कृष्ण के शील-सौंदर्य की प्रशंसा सुनकर वैष्णवभक्त बन गए थे उस समय किसी वैष्णव द्वारा इन्हें श्रीनाथ जी का चित्र दिखाया जाना भी कहा जाता है।[1] इसमें संदेह नहीं कि रसखान को एक सच्चे प्रेमी का हृदय मिला था और उसके उमंग में इन्होंने अपने मूल धर्म, उच्चकुल वा कीर्त्ति की भी उपेक्षा कर दी थी और कृष्णभक्त हो गए थे। इसीलिए श्री राधारचरण गोस्वामी ने, इनकी प्रशंसा करते हुए, अपनी 'नवभक्त माल' में इस प्रकार लिखा है—

दिल्ली नगर निवास बादसावंस विभाकर।
चित्र देख मन हरो भरो पन प्रेम सुधाकर॥
श्री गोवर्द्धन आय जबै दर्शन नहिं पाए।
टेढ़े मेढ़े बचन रचन निर्भय ह्वै गाए॥
तब आप आय सुमनाय कर, सश्रूषा महमान की।
कवि कौन मिताई कहि सकै, श्रीनाथ साथ रसखान की॥[2]

जान पड़ता है कि गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से दीक्षा ग्रहण करके ये फिर पूर्ण भक्त बन गए और अपना जीवन उसी प्रकार बिताने लगे। इनकी एक रचना से पता चलता है कि इन्होंने 'देस विदेस' के नरेशों के यहाँ भी अपने भाग्य की परीक्षा की थी और, अंत में, कृष्ण के 'बड़ों रिझवार' होने पर विश्वास करके

---

[1] **'२५२ वैष्णवन की वार्त्ता' (२१८ वीं संख्या)**

[2] **'रसखान और घनानंद (का० ना० प्र० सभा), पृष्ठ ५ पर उद्धृत**

उन्हींके गुण गान में लग गए थे।[1] किंतु इसके लिए कोई प्रमाण अभी तक नहीं मिला। वेणीमाधवदास कृत समझे जाने वाले 'मूलगुसाईं चरित' के एक स्थल पर लिखा मिलता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी नवनिर्मित रचना 'रामचरितमानस' को, सर्वप्रथम, मिथिला के रूपारुण स्वामी को सुनाया था। उसके अनंतर संडीला निवासी स्वामी नंदलाल का शिष्य दलाल दास उनके यहाँ से उसकी प्रतिलिपि करके अपने गुरु के पास ले गया। उसने फिर उसे,

जमुनातट पै त्रयवत्सर लों। रसखानहि जाइ सुनावत भो।[2]

जिससे पता चलता है कि इन्होंने उसे सं० १६३३ के आस-पास सुना होगा और इन्हें वह ग्रंथ ऐसा रुचिकर जान पड़ा होगा कि ये उसे, संभवतः, सं० १६३६ वा १६३७ तक सुनते रहे होंगे। परंतु यदि इनका जन्म संवत् सं० १६१५ ही मान लिया जाय तो इनकी अवस्था उस समय १८-२० वर्ष की ही ठहरती है जब ये सौंदर्योपासक मात्र रहे होंगे 'रामचरितमानस' के रामचंद्र को अत्यंत सुंदर बतलाया गया है जिन्हें देखते ही सुर, नर, असुर एवं समुद्र के जलचर तक मुग्ध हो जाते हैं, किंतु आश्चर्य की बात है कि निरंतर तीन वर्षों तक उनका वर्णन सुनने वाले रसखान ने उनके विषय में प्रायः कुछ भी नहीं लिखा है।

रसखान द्वारा रचे गए किसी प्रबंध-काव्य का पता नहीं चलता और इनकी उपलब्ध रचनाएँ फुटकर पद्यों के संग्रह-रूप में दीख पड़ती हैं इनकी केवल एक ही पुस्तक ऐसी है जिसे पुस्तक रूप में लिखी गई कह सकते हैं और वह भी केवल ५२ दोहों की 'प्रेमवाटिका' है। उसके अंत में इन्होंने स्वयं कह दिया है कि उसे इन्होंने रुचिर 'प्रेमवाटिका' के रूप में सं० १६७१ में निर्मित किया था। उसके अतिरिक्त इनकी रचनाओं में इनके सवैये भी बहुत प्रसिद्ध हैं और उनका एक संग्रह इनके कतिपय कवित्तों तथा कुछ दोहों एवं सोरठों के साथ 'सुजान रसखान' के नाम से प्रकाशित हो चुका है जिसमें विषय का कोई क्रम नहीं दिखाई देता। ऐसे संग्रहों के प्रकाशन का सर्व प्रथम प्रयास कदाचित्

---

[1] **वही, पृष्ठ ३९ (सवैया, १०८)**

[2] **'मूलगोसांई चरित' (गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० १९९१), पृष्ठ २०**

गोस्वामी किशोरीलाल ने किया था और उसे किसी समय 'रसखान शतक' के नाम से बांकीपुर के खड्गविलास प्रेस द्वारा प्रकाशित कराया था। उस संग्रह के पद्यों की संख्या में वृद्धि करके फिर उन्होंने 'सुजान रसखान' के नाम से उसे 'भारत-जीवन प्रेस, काशी' द्वारा सन् १९१९ ई० में छपाया और उसमें कुल मिलाकर १३३ छंदों को स्थान दिया। गोस्वामीजी ने इसके पहले सन् १९०७ ई० में वहीं के 'हितचिन्तक यन्त्रालय' से 'प्रेमवाटिका' का भी प्रकाशन करा दिया था जिसमें कुछ ५३ दोहे थे। इसके अनंतर सं० १९८६ इनके 'सुजान रसखान' वाले संग्रह को कुछ और बढ़ाकर उसे श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी ने 'रसखान पदावली' के नाम से निकाला, किंतु उसी वर्ष अमीर सिंह के संपादन में 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' ने उसे ही 'प्रेमवाटिका' के साथ 'रसखान और घनानंद' के अंतर्गत संयुक्त रूप में भी प्रकाशित कर दिया। तब से फिर इनकी रचनाओं का एक संग्रह 'रसखान रत्नावली' नाम से किंकर जी द्वारा संपादित होकर 'भारतवासी प्रेस, दारागंज, प्रयाग' से प्रकाशित हुआ है, जिसमें पद्यों के रूप कुछ प्रवर्तित भी कर दिये गए हैं। फिर भी उक्त 'सभा' के ही सं० १९९१ तथा सं० १९९२ के वार्षिक विवरणों से पता चलता है कि प्राचीन हस्तलिखित ग्रथो की खोज करते समय उसके कार्यकर्त्ताओं को मथुरा जिले में 'रसखान के ६०० सवैयां और कवित्तो का' कोई 'संग्रह' मिला है[1] और प्रायः ४०० सवैयों का ककारादि क्रम से[2] लिखा हुआ कदाचित् एक दूसरा संग्रह भी उपलब्ध हुआ है जो 'साहित्यिक दृष्टि से' एक 'महत्त्वपूर्ण खोज' वाली पुस्तकों की श्रेणी में रखने योग्य है। अतएव, 'रसखान' की सारी रचनाएँ अभी तक प्रकाश में नहीं आ सकी हैं और न उनका, इसी कारण, गंभीर अध्ययन और अनुशीलन किया जा सका है।

[२]

'रसखान' की उपर्युक्त प्रकाशित रचनाओं को देखने से पता चलता है

---

[1] 'बयालीसवाँ वार्षिक विवरण 'संवत् १९९१ पृष्ठ ७

[2] 'तैंतालीसवाँ वार्षिक विवरण' संवत् १९९२ पृष्ठ ७-८

कि ये, वास्तव में, एक प्रेमी जीव थे जिन्हें विरक्ति ने लौकिक प्रेम-सरिता से बाहर निकाल कर श्रीकृष्णचंद्र के अलौकिक भक्ति सागर में मग्न कर दिया था। इनके प्रत्येक पद्य में प्रेममयी भक्ति का ही अनोखा रंग दीख पड़ता है। इन्हें अपने समसामयिक अन्य कई भक्तों की भाँति न तो अपने इष्टदेव की कोई लंबी-चौड़ी प्रशंसा करनी है और न मुक्ति वा बैकुंठ की चाह में आत्मग्लानि में सने हुए विनय के पद ही निर्माण करने हैं। ये तो एक साधारण अहीर के घर खेलकूद करने तथा बृंदावन में गाय चराते समय विविध लीलाओं में सदा दत्त-चित्त रहने वाले नवयुवक श्रीकृष्ण को अपनी निर्निमेष दृष्टि से केवल देखते रहना चाहते हैं। इनकी दृढ़ धारणा है कि यदि मैं उसे अनेक जन्मों तक भी देखता रहूँ तो भी मेरे नेत्रों को तृप्ति नहीं मिल सकती। इन्हें अनेक विभव सम्पन्न द्वारकाधीश अथवा 'महाभारत' वाले राजनीतिज्ञ सूत्रधार एवं गीता के गायक से कोई काम नहीं। ये तो स्पष्ट शब्दों में कह देते हैं—

ग्वालन सँग जैबो बन, ऐबो सुगाइन सँग,
हेरि तान गैबो हा हा नैन फरकत हैं।
ह्याँ के गज मोती माल, वारौं गुंज मालन पै,
कुंज सुधि आए हाय प्रान धरकत हैं॥
गोबर को गारो सुतौ मोहि लगै प्यारो,
कहा भयो महल सोने को जटत मरकत हैं।
मंदिर ते ऊंचे यह मंदिर हैं द्वारका के,
ब्रज के खिरक मेरे हिए खरकत हैं॥१००॥[1]

अर्थात् द्वारकापुरी में बने हुए मंदराचल से भी ऊंचे-ऊंचे स्वर्ण-मंदिर मेरे लिए ब्रज की झोपड़ियां के सामने कुछ भी नहीं हैं और न वहाँ की गजमुक्ता की बनी मालाएं यहाँ की गुंजमालां के सामने कुछ अधिक महत्त्व रखती हैं; मैं उन्हें इनके ऊपर न्योछावर करने तक पर तैयार हो सकता हूँ। कारण यह कि ब्रज के ग्वालों के साथ सदा बन को जाना, वहाँ से फिर लौटकर गौओं के साथ

[1] **'रसखान और घनानंद'** (का० ना० प्र० सभा), पृष्ठ ३७

आना और तान अलापा कराना मेरे लिए आनंद एवं प्रेमोल्लास के विषय हैं। मुझे तो इसी कारण व्रज की गोबर वाली ढेरी तक परम प्रिय जान पड़ती है। व्रज की एक-एक प्रकार के साथ मेरी इतनी आत्मीयता हो गई है कि उसका अनुभव होते ही मेरे नेत्र फड़क उठते हैं और मेरा हृदय भी धड़कने लगता है।

रसखान ने इसी भावना को अपने एक सवैये द्वारा इस प्रकार भी व्यक्त किया है :—

या लकुटी अरु कामरिया पर, राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवौ निधि को सुख, नंद कौ गाइ चराइ बिसारौं॥
रसखानि कबौं इन आखिन सौं, ब्रज कौ वन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हूँ कलधौत के धाम, करील के कुंजन ऊपर बारौं॥२॥[1]

अर्थात् अपने प्रियतम कृष्ण की 'लकुटी' और 'कामरी' के उपलक्ष में मैं सारे त्रैलोक्य का राज्य तक न्योछावर कर सकता हूँ। नंद बाबा की गायें चराते समय आठों सिद्धियों तथा नवों निधियों का सुख तक भुला दे सकता हूँ। यदि किसी प्रकार व्रज के उन करील वनों को इन अपने नेत्रों द्वारा कहीं देख पाऊँ तो उनके ऊपर करोड़ों स्वर्ण मंदिर तक अर्पित कर देने में मुझे कुछ भी संकोच न होगा। वहाँ के अन्य बागों वा तड़ागों को देखने की तो बात ही और है। ये तो यहाँ तक कह डालने में नहीं हिचकते,

मानुस हौं तौ वही रसखानि, बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तौ कहा बस मेरौ, चरौं नित नंद की धेनु मंझारन॥
पाहन हौं तौ वही गिरि को, जो धर्‍यो कर छत्र पुरंदर धारन।
जौ खग हौं तो बसेरो करौं मिलि, कालिंदी कूल कदंब की डारन॥[2]

अर्थात् यदि मर भी जाऊँ और मेरा पुनर्जन्म होने वाला हो तो मेरी अभिलाषा है कि मानव शरीर धारण करने की दशा में मैं व्रजमंडल स्थित गोकुल गाँव के ग्वालों के ही साथ निवास करूँ, यदि मुझे पशु योनि मिले तो

[1] **'रसखान और घनानन्द' (का० ना० प्र० सभा), पृष्ठ १७**
[2] **वही, पृष्ठ १७**

नंद बाबा की गायों के साथ ही सदा चरता फिरूँ; यदि पक्षी होना मेरे लिए निश्चित हो तो यमुना के किनारे खड़े कदंब वृक्षों की डालों पर ही अपना घोंसला बनाऊँ और यदि पत्थर हो जाऊँ तो भी उस पर्वत (गोवर्द्धनगिरि) का ही एक शिला-खंड बन जाऊँ जिसे मेरे प्रियतम श्रीकृष्ण ने कभी इंद्र की मूसलधार वर्षा से व्रज को बचाने के लिए उसे अपने हाथ में (वा उँगली पर) छाते की भाँति धारण किया था।

भक्त रसखान अपने इष्टदेव अथवा उक्त प्रियतम श्रीकृष्ण के विषय में मीमांसा करते हुए इस परिणाम तक पहुँचते हैं—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यो पुरानन गानन, वेद रिचा सुन्यो चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कितू वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
हेरत हेरत हारि परयो रसखानि बतायो न लोग लुगायन।
देखो दुरो वह कुञ्ज कुटीर में, बैठि पलोटत राधिका पायन॥[1]

अर्थात् वैदिक-ऋचाओं के आधार पर ब्रह्म का महत्त्व सुनकर मै उसे पौराणिक गाथाओं तथा संगीत के सहारे कई ओर ढूँढ़ता फिरा किंतु कहीं पर भी मुझे उसके स्वरूप अथवा स्वभाव के विषय में कोई तथ्य अनुभव में नहीं आया। मै उसे खोजता और चिल्लाता हुआ दौड़-धूप करके हारकर बैठ गया, किंतु किसी भी नर-नारी ने मुझे उसका ठीक-ठीक परिचय नहीं दिया। अंत में अनेक प्रकार की उधेड़-बुन के पश्चात् मै अपने अनुभव द्वारा इसी परिणाम पर पहुँचा कि जिसे ब्रह्म की उपाधि धारण करने वाला कहा जाता है वह वस्तुतः वही है जिसका ध्यान मै व्रज के लता-मंडपों में छिपकर बैठे हुए तथा अपनी प्रियतमा राधिका के चरणों को दबाते हुए एक सच्चे प्रेमी के रूप में सदा किया करता हूँ। इनकी व्याख्या के अनुसार, इसी कारण, ब्रह्म का स्वरूप आनंदघन एवं प्रेममय ही बतलाया जा सकता है।

रसखान शुद्ध प्रेमाभक्ति की उपासना को ही सर्वोच्च स्थान देते थे और

---

[1] **'रसखान और घनानन्द'** (का० ना० प्र०सभा), **पृष्ट २२**

प्रेम के विषय में इन्होने 'प्रेमवाटिका' की रचना की थी। उस छोटी-सी पुस्तक को देखने से भी स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने इस विषय पर पूरा अध्ययन एवं चिंतन भी किया होगा। इनके पूर्ववर्त्ती तथा समकालीन अन्य भक्त कवियों ने भी इसे लेकर अपनी-अपनी रचनाएं की हैं। किंतु रसखान का प्रेम-निरूपण अपने ढंग का निराला है और उसमें इनके व्यक्तिगत अनुभव एवं स्वाध्याय की पूरी छाप लगी हुई है। रसखान ने प्रेम की महिमा बतलाई है, उसके लक्षण और स्वरूप पर लिखा है और उसके मुख्य मुख्य भेद भी कहे हैं। शुद्ध प्रेम का रूप चित्रित करते समय इन्होंने उसे अन्य प्रकार के भावों के साथ तुलना करके भी दिखलाया है और, इसकी विशुद्ध भारतीय पद्धति का विशद विवेचन करते समय भी इसके व्यापक क्षेत्र को सदा अपने ध्यान में रखा है।

प्रेमकी महिमा गाते हुए ये बतलाते हैं कि—प्रेम के बिना ज्ञान का गर्व करना व्यर्थ है। प्रेम ही श्रुति, स्मृति, पुराणादि सभी का सार है, यहाँ तक कि प्रेम के ही आधार पर विषयानंद एवं ब्रह्मानंद दोनों आश्रित हैं। प्रेम के बिना ज्ञान, कर्म, उपासनादि की साधनाएं सिवाय अहंम्मन्यता के और कुछ भी नहीं है।[१] प्रेम वह वस्तु है जिसका न जानना कुछ भी न जानने के बराबर है और जिसके जान लेने पर कोई भी ज्ञान शेष नहीं रह जाता।[२] प्रेम हरि अथवा ईश्वर का ही रूप है और इन दोनों में वही संबंध है जो धूप एवं सूर्य में पाया जाता है।[३] प्रेम को पा लेने पर बैकुंठ क्या स्वयं हरि तक की चाह नहीं रह जाती[४] क्योंकि सबको अपने आधीन रखने वाले हरि स्वयं प्रेम के आधीन रहते हैं।[५] प्रेम ही सब धर्मों से बढ़कर है और वही वास्तविक मुक्ति भी है।

परंतु यह सब होते हुए भी प्रेम को बिरले मनुष्य जान पाते हैं; जगदीश

---

[१] 'प्रेमवाटिका' (हितचिंतक यन्त्रालय काशी) पृष्ठ ३-४ (दो० ६-१२)

[२] वही, पृष्ठ ६ (दो० १८)

[३] वही, पृष्ठ ७ (दो० २४)

[४] वही, पृष्ठ ८ (दो० २८)

[५] वही, पृष्ठ १० (दो० ३६)

एवं प्रेम दोनों समझ के परे और अकथनीय हैं।[1] बहुत लोगों ने इसे रूपकों के द्वारा समझाने की चेष्टा की है और कहा है कि प्रेम समुद्र की भाँति अगम, अनुपम और अपरिमित है, अथवा प्रेम वह वारुणी है जिसे पाकर वरुणदेव जल के स्वामी हो गए तथा जिसके कारण, विष पान करने पर भी, शिव आज तक भी पूजे जाते हैं। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि प्रेम वह दर्पण है जिसमें स्वयं अपना रूप भी विचित्र और अपरिचित-सा प्रतीत होता है[2] और वह फांसी, तलवार, नेजा, भाला वा तीर है जिसकी मार की मिठास रोम-रोम में भर जाती है और जिसके कारण मरता हुआ भी प्राणी पुनर्जिवित हो उठता है, झुकता हुआ भी सँभल जाता है, तथा नितांत नष्ट भ्रष्ट हो चुकने वाला भी पुनः उठ खड़ा हो जाता है; यह वह विचित्र खेल है जिसमें दो दिलों का मेल हो जाता है और प्राणों तक की बाजी लगती है।[3] यह एक विचित्र धूत कर्म समझा जाता है। किंतु इन बातों से विषय का स्पष्टीकरण नहीं होता।

अतएव रसखान ने, प्रेमतत्त्व को भलीभाँति हृदयंगम कराने के लिए, उसे कुछ विस्तार देकर स्पष्ट करने की चेष्टा की है। ये कहते हैं कि जिस वस्तु से प्रेम सी उत्पत्ति होती है वह प्रेम का बीज रूप है और जिसमें वह उत्पन्न होता है वह उसका क्षेत्र रूप है। जिसकी सहायता से वह अंकुरित, विकसित, पुष्पित एवं फलयुक्त हुआ करता है वह सब प्रेम ही प्रेम है। वही बीज है, वही अंकुर है, वही जल का सिचाव है और वही उसका आलवाल (थाला) भी है तथा उसी सुख के सर्वस्व को हम उसकी डाल, पात, फूल और फल भी मानते हैं वह जो है, जिससे है, जिसमें है और जिसके लिए है वह सभी कुछ प्रेम ही प्रेम है। कार्य, कारण, रूप, कर्त्ता, कर्म, करण और क्रिया भी स्वयं प्रेम ही है[4]; प्रेम के संसार में उसके अतिरिक्त अन्य को भी वस्तु पृथक् रूप में नहीं है। प्रत्यक्षतः

---

[1] **'प्रेम वाटिका' (हितचिंतक यंत्रालय, काशी), पृष्ठ ५ (दो० १७)**

[2] **वही, पृष्ठ २ (दो० २५)**

[3] **वही, पृष्ठ ८-९ (दो० २९-३१)**

[4] **वही, पृष्ठ १२-१३ (दो० ४३-४७)**

प्रेम, श्रवण, कीर्त्तन तथा दर्शन से उत्पन्न होता है और वह शुद्ध एवं अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का समझा जा सकता है। जो स्वार्थमूलक होता है उसे 'अशुद्ध' कहा जाता है और जो रसमय, स्वाभाविक, निःस्वार्थ, अचल, महान और सदा एकरस हुआ करता है वही 'शुद्ध' प्रेम है। रसखान इस शुद्ध प्रेम को दंपतिमुख, विषयरस, पूजा, निष्ठा एवं ध्यान इन सभी से परे की वस्तु मानते है।[१]
ये उसकी परिभाषा देते हुए बतलाते हैं,

बिनु गुन, जोवन, रूप, धन, बिनु स्वारथ हित जानि।
शुद्ध, कामना ते रहित, प्रेम सकल रसखानि ॥१५॥[२]

तथा, **इक अंगी, बिनु कारनहि, इकरस सदा समान।**
गनै प्रियहि सर्वस्व जो, सोई प्रेम प्रमान ॥२१॥[3]

अर्थात् गुण, यौवन, सौंदर्य, धन अथवा किसी प्रकार की भी स्वार्थमयी कामना की जो अपेक्षा नहीं करता हो और जो एकांगी, निष्कारण, एकरस वा एकरूप प्रेम का प्रेमी हो तथा जो एक मात्र प्रियतम को ही अपना सर्वस्व मानता हो वही वास्तविक प्रेम का पुजारी है। ऐसी दशा में मित्र, कलत्र, भ्राता वा पुत्र के प्रति उत्पन्न हुआ तथा स्वाभाविक समझा जाने वाला स्नेह भी पूर्णतः विशुद्ध नहीं कहा जा सकता।[४] संसार में सबसे अधिक ममता अपने शरीर के प्रति हुआ करती है, किंतु प्रेम उस शरीर से भी अधिक प्यारा है।[५] इसका कारण यह है कि सच्चे प्रेम के प्रेमी एवं प्रेमपात्र के केवल दो मन ही एक नहीं हो जाते, अपितु उनके दो शरीरों में भी अभिन्नता का भाव आ जाता है[६] और वह प्रेम के रंग में रँग जाता है।

---

[१] वही, पृष्ठ ११-१२ (दो० ४०-४२)
[२] 'प्रेम वाटिका' (हितचिंतक यंत्रालय, काशी), पृष्ठ ५
[3] वही, पृष्ठ ६
[४] वही, पृष्ठ ६ (दो० २०)
[५] वही, पृष्ठ ८ (दो० २७)
[६] वही, पृष्ठ १० (दो० ३४)

रसखान ने प्रेम के मार्ग को, इसी कारण, बड़े विचित्र ढंग का ठहराया है। इनके अनुसार,

कमल तंतु सो छीन अरु, कठिन खडग की धार।
अति सूधो टेढो बहुरि, प्रेम-पथ अनिवार ॥६॥[1]
अति सूछम कोमल अतिहि, अति पतरो अति दूर।
प्रेम कठिन सबतें सदा, नित इकरस भरपूर ॥१६॥[2]

अर्थात् वह कमल सूत्र के समान क्षीण है, किंतु तलवार की धार के समान कठिन भी है; वह अत्यंत सीधा, किंतु साथ ही विकट भी है। प्रेम की कठिनाई इसी कारण है कि वह सदा एकरस एवं भरपूर होता हुआ भी अत्यंत सूक्ष्म और कोमल है तथा अत्यंत क्षीण अथवा संकीर्ण होता हुआ बहुत लंबा भी है। रसखान से पीछे आने वाले प्रेमी कवि घनानंद ने 'सनेह को मारग' को 'अति सूधो' कहा है और उसी प्रकार बोधा ने 'प्रेम को पंथ' को 'मृनाल के तारहुते' 'अतिखोन' बतलाकर उसे 'महाकराल' ठहराया है जिनमें ऐसी विचित्रता नहीं हैं। प्रेम की 'अकथ कहानी' को, इसी कारण, केवल कुछ ही लोग आज तक जान पाये हैं। इसे मानो लैला 'खूब' जानती थी[3] अथवा व्रज की गोपियाँ इसमें 'अनन्य' हो गई थीं और इसके रस की माधुरी को कुछ उद्धव ने भी जाना था। अब दूसरा कौन है जो इसकी 'मिठास' को पा सके[4]।

[२]

उपर्युक्त आदर्श प्रेमियों में से गोपियों के प्रेम का वर्णन रसखान ने अपने कवित्तों और सवैयों में सुंदर ढग से किया है। कृष्ण किसी दिन उनमें से किसी एक का नाम लेकर अपनी वंशी बजा देते हैं; कभी उनकी गली से चल

---

[1] **'प्रेमवाटिका' (हितचिंतक यंत्रालय, काशी) पृष्ठ ३**

[2] **वही, पृष्ठ ५**

[3] **वही, पृष्ठ ९ (दो० ३३)**

[4] **वही, पृष्ठ ११ (दो० ३८-३९)**

निकलते हैं; कभी अवसर पाकर उनसे आँखें चार कर लेते हैं; कभी गोरस बेंचते समय उनसे भेंट हो जाने पर उनसे थोड़ी-सी बतरस कर बैठते हैं वा उन्हें देख-कर तनिक मुस्करा भर देते हैं और इतने में हो वे बावली-सी होकर उनके पीछे पड़ जाती हैं तथा उनका प्रेम दिन दूना रात चौगुना होता हुआ नित्य बढ़ता चला जाता है। उदाहरण के लिए रसखान ने किसी ऐसी ही गोपी द्वारा कहलाया है—

दूध दुह्यो सीरो पर्‍यो, तातो न जमायो कर्‍यो,
जामन दयो सो धर्‍यो धर्‍योई खटाइगो।
आन हाथ आन पाइ सबही के तबही तो,
जबहीं ते रसखानि तानन सुनाइगो॥
ज्यौहीं नर त्यौंही नारी, तैसी ये तरुन वारी,
कहिए कहारी सब, ब्रज बिललाइगो।
जानिए न आली यह, छोहरा जसोमति को,
बांसुरो बजाइगो कि, विष बरसाइयो॥५३॥[1]

अर्थात् दुहा हुआ दूध ठंढा वा बासी-सा हो चला, औंटे हुए में जामन डालना रह गया, जामन जिसमें पड़ चुका था वह योंही रखा-रखा खट्टा होने लगा—ये सभी काम तभी से अधूरे रह गए जब से उसने अपनी वंशी की तान छेड़ दी और उसे सुननेवाली प्रत्येक गोपी के हाथ-पैर मानो और के और हो गए; स्त्रियों की ही कौन कहे, पुरुष तक भी अर्थात् सारे व्रजवासी विलाले बन गए। इसका कारण केवल यही हो सकता है कि यशोदा के उस लड़के ने वंशी-वादन के बहाने सारे व्रजमंडल में विप फैला दिया है।

इसी प्रकार इस वंशी-वादन के ही प्रभाव द्वारा उत्पन्न हुए प्रेम भाव का वर्णन करती हुई कोई गोपी अपने विपय में कहती है—

मेरो सुभाव चितैवेको माइरी, लाल निहारि के बंसी बजाई।
वा दिन तें मोहि लागी ठगौरी सी, लोग कहैं कोई बावरी आई॥

---

[1] 'रसखान और घनानंद' (का० ना० प्र० सभा), पृष्ठ ६२

यो रसखानि घिर्यो सिगरो ब्रज, जानत वे कि मेरो जियराई।
जो कोउ चाहै भलौ अपनौ तौ, सनेह न काहू सों कीजियो माई[1] ॥८०॥

अर्थात् मेरा स्वभाव इधर-उधर देखने का ठहरा ही, उसने मुझे ही लक्ष्य करके अपना वंशी बजा दी और, बस उसी दिन से, मुझे कुछ जादू टोना-सा लग गया तथा मै सबके बीच पगली कहला कर प्रसिद्ध हो चली। इस ब्रजमंडल में सभी प्रकार के नर-नारी निवास करते हैं, किंतु मेरे और उसके बीच के संबंध का रहस्य किसीको भी ज्ञात नहीं—या तो इसे वही जानता है या मेरा हृदय इससे परिचित है। मेरा अनुभव तो यह हो रहा है कि यदि कोई अपना भला चाहता हो तो उसे किसी के साथ प्रेम नहीं करना चाहिए।

ऐसी गोपियाँ ब्रजमंडल में अनेक थीं जो उक्त प्रकार से कृष्ण के वश में पूर्णतः हो गई थीं और वे उनके लिए सब कुछ करने को उद्यत थीं वे कहती थीं "हम लोगों को ऐसी दशा में सभी कुछ सहन कर लेना चाहिए। जब उनसे प्रेम कर लिया तब किसी नियम का पालन करना या किसी मर्यादा की रक्षा करना हमारे लिए कोई अर्थ नहीं रखता; अब तो वे जैसी नाच नाचने को कहें हमें स्वीकार कर लेना चाहिए और उन्हें देख पाने के प्रयत्न करने चाहिए। मैं तो यहाँ तक कहूंगी,

चोरिय सों जु गुपाल रच्यो तौ चलो री सबै मिलि चेरी कहावै।[2]

अर्थात् यदि वे इसी बात में प्रसन्न हैं कि हम लोग चेरी बन जाँय—जैसा कि उनके चेरी कुब्जा के प्रति अनुरक्ति-प्रदर्शन से सूचित होता है तो चलो हम सभी आज से चेरी कहलाने का ही नियम अनुसरण करें जिससे वे किसी प्रकार हमारी ओर आकृष्ट हो सकें और हम अपने को कृतकृत्य मान सकें। गोपियाँ कृष्ण के प्रेम में पूर्ण तन्मय रहा करती हैं और वे, सदा उनकी धुन में लगी हुई होने के कारण, अन्य बातों की ओर कभी ध्यान तक नहीं देतीं। कृष्ण के प्रति उनकी तन्मयता उस समय अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है जब वे

---

[1] **'रसखान और घनानंद' (का० ना० प्र० सभा), पृष्ठ ३३**

[2] **वही, पृष्ठ ३७**

कीट-भृंग न्याय के अनुसार अपने को कृष्णवत् बनाने की चेष्टा करने लगती हैं और कहने लगती हैं,

मोर पखा सिर ऊपर राखिहौं, गुंज की माल गरैं पहिरौंगी।
ओढि पितंबर लै लकुटी, वन गोधन ग्वारीन संग फिरौंगी॥
भावतो मोहि मेरो रसखानि, सों तेरे कहे सब स्वांग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की, अधरान धरी अधरान धरौंगी॥३॥[1]

अर्थात् मेरा प्रियतम मुझे अब ऐसा भा गया है कि, यदि तू कहे तो मैं उसके उपलक्ष में सारा स्वांग रच डालने की चेष्टा करूँगी। मैं अपने सिर पर 'मोर पखा' रख लूँगी, गले में गुंजमाल पहनूँगी, पीतांबर ओढ़कर तथा हाथ में लकुटिया लेकर वन में गौओं और ग्वालो के संग घूमती फिरूँगी और जिस मुरली को मेरा प्रियतम अपने होठों में लगाता है उसे मै भी, उसी प्रकार, बजाऊँगी।

वास्तव में कृष्ण का सौंदर्य अत्यंत मनोमोहक है और उसे देखकर गोपियाँ अपने को किसी प्रकार संभाल नहीं पाती हैं। उनकी इस विवशता का दिग्दर्शन कराते हुए रसखान किसी एक गोपी के विषय में कहते हैं—

जा दिन तें निरख्यो नदनंदन कानि तजी कुल बंधन छूट्यो।
चारु बिलोकनि की निसि मार सम्हार गई मन मार ने लूट्यो॥
सागर कों सरिता जिमि धावति, रोकि रहे कुल को पुल टूट्यो।
मत्त भयो मन संग फिरै रसखानि सरूप सुधारस छूट्यौ॥४॥[2]

अर्थात् सर्व प्रथम दिन के ही दर्शन से प्रभावित होकर उसने अपने कुल की लाज और मर्यादा का परित्याग कर दिया, उनकी सुंदर चितवन के फेर में पड़ कर उसका मन लुट गया और वह उनके पीछे वैसे ही वेग के साथ दौड़ पड़ी जैसे कोई नदी समुद्र की ओर प्रवाहित हो चली हो और अपने सामने पड़ने वाले

[1] 'रसखान और घनानंद' (का० ना० प्र० सभा), पृष्ठ १७
[2] वही, पृ० २१

पुल को तोड़ कर आगे बढ़ रही हो। यहाँ पर उसने अपने कुल के बंधनों को उसी प्रकार तोड़ दिया है। उनके सौंदर्य की सुधा का रस पान करके उसका मन मतवाला बना अब उनके पीछे-पीछे डोल रहा है।

कृष्ण का स्वरूप गोपियो के मनोमंदिर में इस प्रकार जम कर बैठ जाता है कि उन्हे अपने आस-पास तक का ज्ञान नहीं रह जाता। एक गोपी को कृष्ण का साक्षात्कार होता है और वह उनके रूप सौंदर्य को देखते ही अपनी आँखें मूँद कर पगली-सी मुसकराने लगती है। उससे उसकी सखी बार-बार कहती है कि अरी, ये तेरे सामने खड़े हैं, इन्हें देख, ये कैसे लुभावने लगते हैं, अपना घूँघट हटा इन्हें भरपूर देख ले। किंतु उसे इसकी सुध नहीं। वह उसी कृष्ण को अपने हृदय में बिठाकर संतुष्ट है; उसे घूँघट खोलने की आवश्यकता नहीं है और न वह यही समझ पाती है कि जिसके प्रतिरूप या प्रतीक को मैंने अपने भीतर स्थान दिया है वह बाहर स्वयं उपस्थित है। रसखान ने जो इस दृश्य का सुंदर चित्र खींचा है वह इस प्रकार है—

सोहत है चंदवा सिर मौर के, जैसिये सुंदर पाग कसी है।
तैसिये गोरज भाल विराजति, जैसी हिये वनमाल लसी है॥
रसखानि विलोकत बौरी भई, दृग मूँदि कै ग्वालि पुकारी हँसी है।
खोलिरी घूंघट, खोलौं कहा वह मूरति नैनन मांझ बसी है॥२१॥[1]

अर्थात् श्यामसुंदर के सिर पर लगी हुई मोर-चंद्रिका की कलँगी, उनकी सुंदर पाग, ललाट पर दिया हुआ गोरजी चंदन तथा उनके वक्षःस्थल पर शोभायमान वनमाला सभी एक से एक मनोमोहक हैं और उनका जीता-जागता चित्र उस गोपी की आँखों में स्थायी रूप से अंकित हो गया है; अब उसे अपनी आँखें खोलकर फिर दुबारा उन्हें प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता ही क्या रह गई है। रस-खान के इस सवैये को पढ़ते ही हमारे सामने सहसा उस सुतीक्ष्ण की भावमुद्रा आ जाती है जिसका वर्णन गो० तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' के

---

[1] **'रसखान और घनानंद' (का० ना० प्र० सभा), पृष्ठ २१**

'आरण्य कांड' में किया है। गोस्वामी जो ने सुतीक्ष्ण को 'निर्भर प्रेम मगन' कहा है और बतलाया है कि पहले तो वे प्रेमविह्वल होकर, अपने इष्टदेव के आगमन के उपलक्ष में, आनंद विभोर-से हो गए थे और उन्हें वृक्षों की ओट से देख-देखकर नृत्य तक करने लग जाते थे। किंतु जब उन्होंने श्रीरामचद्र को अपने हृदय में प्रतिष्ठित पाया तो वे पुलकित होकर मार्ग में ही बैठ गए और ध्यानस्थ हो गए। उन्हें फिर अपने सामने प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित राम का भान एक दम से नहीं रहा और वे स्वयं उन्हींके द्वारा जगाये जाने पर भी सचेत नहीं हो सके।

रसखान की गोपी को श्रीकृष्ण की मुसकान, उनके वंशीवादन और उनकी मुखाकृति के सौदर्य का प्रभाव भलीभाँति विदित है उनमें से एक स्पष्ट शब्दो में कहती है :—

कानन दे अंगुरी रहिबो, जबहीं मुरली धुनि मंद बजैहै।
मोहनी तानन सों रसखानि, अटा चढ़ि गोधन गैहै तो गैहै॥
टेरि कहौ सिगरे ब्रज लोगनि, कालिह कोऊ कितनो समुझैहै।
माइरी वा मुखकी मुसकानि, सम्हारी न जैहै न जैहै न जैहै॥५६॥[1]

अर्थात् जब श्रीकृष्ण मंद ध्वनि में अपनी वंशी बजाने लगेंगे अथवा ऊँचे स्थान पर चढ़कर गौओं को टेरने लगेंगे तो अपने कानो में अंगुली डालकर उसे न सुनने का लाख प्रयत्न करने पर भी सफलता नहीं मिलेगी। मै सारे ब्रजवासियों को ललकार कर कहती हूँ कि कल उस समय किसीको कोई चाहे किसी प्रकार भी समझायगा उस पर उनकी मुसकान का प्रभाव पड़कर ही रहेगा। इसमें संदेह नहीं। गोपियाँ इस बात में दृढ़ निश्चय हैं,

माइ की अँटक जौलौं, सासु की हटक तौलौं।
देखी ना लटक मेरे दूलह कन्हैया की॥७६॥[2]

---

[1] **'रसखान और घनानंद' (का० ना० प्र० सभा), पृष्ठ २७**
[2] **वही, पृष्ठ ३२**

अर्थात् मां की ओर से बाधा तभी तक पड़ सकती है और अपनी सास भी तभी तक रुकावट डाल सकती है जब तक किसीने उस प्रियतम कृष्ण के त्रिभंगी स्वरूप को प्रत्यक्ष नहीं कर लिया है। उसे देख लेने पर ऐसे प्रश्नों का उठना असंभव-सा है।

उपर्युक्त वंशीवादन, प्रत्यक्षदर्शन अथवा मनोरम लावण्य के आस्वादन द्वारा गोपियों की दशा विचित्र हो जाती है। अपने प्रियतम के प्रति उनका प्रेम इतना गहरा हो जाता है और वे इतनी तन्मय रहती हैं कि उनकी आँख तक इसका पता देने लगती हैं और वे रसखान के ही शब्दों में,

उनही के सनेहन सानी रहैं, उनही के जु नेह दिवानी रहैं।
उनही की सुनै न औ बैन त्यों सैन सों चैन अनेकन ठानी रहैं॥
उनही संग डोलनि में रसखानि, सनै सुखासिंधु अघानी रहैं।
उनहीं बिन ज्यों जलहीन ह्वै मीन सी आंखि मेरी अँसुवानी रहैं॥३१॥[1]

अर्थात् मेरी आँखों की दशा विचित्र हो गई है। ये उस प्रियतम के ही स्नेह में सदा सनी रहा करती हैं, उसीके प्रेम में पगली बनी रहती हैं, उसीकी बातों का संकेत मात्र के भी सहारे अनेक प्रकार का आनंद लूटा करती हैं, उसीके साथ रहने में अपने को सुखमग्न समझा करती हैं और यदि उससे किसी प्रकार वियोग हो जाता है तो जल से बिछुड़ी मछली की भाँति बेचैन होकर सर्वदा आँसू बहाया करती हैं। गोपियाँ श्रीकृष्ण को, वास्तव में, अपना सर्वस्व और जीवनाधार मान बैठी हैं। उस प्रियतम के अतिरिक्त उनका अन्य कोई भी आश्रय नहीं है। उनका कहना है,

प्रान वही जु रहे रिझि वापर, रूप वही जिहि वाहि रिझायो।
सीस वही जिन वे परसे पद, अंक वही जिन वा परसायो॥
दूध वही जु दुहायो री वाहि, दही सु सही जु वही ढरकायो।
और कहाँ लौं कहौं रसखानि री, भाय वही जु वही मन भायो॥१०२॥[2]

---

[1] 'रसखान और घनानंद' (का० ना० प्र० सभा) पृष्ठ २३
[2] वही, पृष्ठ ३७

अर्थात् जितनी भी वस्तुएँ हैं उन सभी का मूल्य वा महत्त्व उस एक प्रियतम के संबंध पर ही निर्भर है, अन्यथा वे किसी भी काम की नहीं। प्राण वे ही सच्चे है जो उस पर रीझना जानते हों, रूप वही वास्तविक है जिसने उसे अपनी ओर आकृष्ट कर रखा हो, सिर का महत्त्व इसीमें है कि वह उसके चरणों का स्पर्श कर ले, अंक वही है जिसने उसको कभी आलिंगन के समय संसर्ग में लाकर अपनाने का अवसर दिया हो, दूध का असली होना इसी बात पर निर्भर है कि उसे उसीने दुहाया है और दही भी उतनी ही दूर तक मधुर एवं विशुद्ध है जितना उसने निरे खेल में उड़ेल दिया है; और तो क्या, हमारे आंतरिक भाव तक, वहीं तक, वास्तविक कहलाने योग्य हैं जहाँ तक वे उस प्रियतम की रुचि के अनुकूल पड़ते है।

फिर भी रसखान द्वारा निरूपित किया गया उपर्युक्त प्रेमभाव एक पक्षीय नहीं है। कृष्ण भी गोपियों से वैसा ही प्रेम करते है। किसी प्रेयसी गोपी के प्रति उनके संवादी (Corresponding) भाव को प्रदर्शित करने के लिए इन्होंने एक उदाहरण इस प्रकार दिया है :—

एरी आजु काल्हि सब लोक लाज त्यागि दोऊ,
सीखे हैं सबै विधि सनेह सरसाइबो।
यह रसखान दिन द्वै में बात फैलि जैहै,
कहाँलौं सयानी चंदा हाथन दुराइबो॥
आजुहौं निहारयो बीर निपट कलिन्दी तीर,
दोउन को दोउन सौं मुरि मुसक्याइबो।
दोऊ परैं पैयाँ दोऊ लेत हैं गलैया,
इन्हें भूलि गईं गैयाँ उन्हें गागर उठाइबो॥६०॥

अर्थात् आजकल उन दोनों (उस गोपी एवं कृष्ण) ने सभी लोक-लाज का परित्याग कर अपने पारस्परिक प्रेम का बढ़ाना ही निश्चय किया है; उन्हें यह

[1] **'रसखान और घनानंद'** (का०ना० प्र० सभा), **पृष्ठ २८**

विदित है कि दो-चार दिनो में जब यह बात फैल ही जाने वाली है तो फिर चंद्रमा को हाथ से छिपाने के प्रयत्न करना व्यर्थ है। अजी, मैंने आज ही उन दोनों को यमुना के ठीक किनारे पर एक दूसरे को मुड़कर देखते और मुस्कराते हुए पाया। दोनों एक दूसरे के पैरों पड़ते थे, एक दूसरे की बलैयां लेते थे, इन्हें अपनी गौएँ भूल गईं और उन्हें अपनी गागर उठाना भूल गया।

रसखान के काव्य का प्रसाद गुण, उसकी भाषा का सौष्ठव तथा उनके द्वारा किया गया स्वाभाविक चित्रण भी प्रशंसनीय हैं।

मध्यकालीन प्रेम-साधना

[१]

'साधना' शब्द का साधारण अभिप्राय उस प्रयत्न से है जो किसी अभीष्ट की उपलब्धि अथवा नित्य सुख की प्राप्ति के निमित्त किया जाता है और इस दूसरे प्रसंगमें, उसे बहुधा 'मार्ग' वा 'कांड' भी कहा करते हैं। साधक अपना 'मार्ग' अपनी प्रवृत्ति के अनुसार ग्रहण करता है और वह उस पर एकनिष्ठ बन कर अग्रसर होता है। वैदिक युग में कर्मकांड की प्रधानता थी जब अधिकतर यज्ञादि के अनुष्ठान किये जाते थे और उसके अनंतर 'कर्म' के विविध रूप भी निर्धारित किये गए थे। तदनुसार वैदिक संहिताओं में हमें जहाँ उसके एक सीधे-सादे क्रियात्मक रूप का ही उल्लेख मिलता है वहाँ 'ब्राह्मणों' में उसकी कुछ न कुछ व्याख्या भी की गई दीख पड़ती है। सूत्रों एवं स्मृतियों ने फिर 'कर्म' के विषय में अपनी व्यवस्था देना आरंभ किया, मीमांसा ने उस पर दार्शनिक विचार किया, पुराणों ने उसे विविध कथाओं द्वारा स्पष्ट किया और तंत्रों तथा आगमों ने उसके साधन, विधि एवं क्रिया को भी विस्तार दिया। इसी प्रकार एक अन्य 'मार्ग' अर्थात् ज्ञानकांड का हमें उपनिषदों में केवल परिचयात्मक उल्लेख-सा ही मिलता है और उसके भी 'ज्ञान' के अर्थ में क्रमशः अनेक परिवर्तन होते गए हैं। सांख्य दर्शन ने उसके लिए यदि कैवल्य दशा की कल्पना की है तो वेदांत ने ब्रह्मात्मैक्य का निरूपण किया है और जैन दर्शन ने जहाँ शुद्ध मुक्त स्वरूप का आदर्श रखा है वहाँ बौद्ध योगाचार ने उसे केवल विज्ञप्ति मात्र तक ही समझ रखने की चेष्टा की है। फलतः कर्मकांड के विषय में जहाँ सरलता से जटिलता की ओर प्रवृत्ति बढ़ी है वहाँ ज्ञानकांड के संबंध में सूक्ष्म से सूक्ष्मतर विवेचन किया गया है।

फिर भी भारतीय साधना केवल उन दो मार्गों तक ही सीमित न थी। प्राचीन काल से ही हमें उसका एक तीसरा भी रूप देखने को मिलता है जो

उपासनात्मक था और जिसे इसी कारण, उपासना कांड कहा करते हैं। इस मार्ग पर अनुसरण करने वाले बहुत से साधक अंतर्मुखी वृत्ति के थे जिनका अधिक प्रयास ध्यान की ओर होता था और, उनकी इस विशेषता के ही आधार पर उनके मार्ग को योगमार्ग की संज्ञा दी जाती है। किंतु उनमें से अनेक ऐसे भी थे जो देवों की स्तुति किया करते थे और उनसे विनयपूर्वक अपने ऐहिक अभीष्ट की याचना करते रहते थे। वे प्राचीन भक्तिमार्गी थे जिनके भक्तिमार्ग के रूप में पीछे चलकर बहुत से परिवर्त्तन हुए। योगमार्ग को कदाचित् वैदिक युग के पहले से भी पूरा महत्त्व दिया जाता था जिसके प्रमाण में, सिंधु उपत्यका की खुदाइयों द्वारा उपलब्ध की गई, अनेक वस्तुएं प्रस्तुत की जाती हैं और विशेषतः उस काल की मूर्तियों के योगासनों एवं योगमुद्राओं की ओर ध्यान दिलाया जाता है। 'ऋग्वेद' में एक स्थल पर आता है "जिसके बिना किसी बड़े विद्वान् का भी कोई यज्ञ का उत्तम कार्य सिद्ध नहीं होता वह बुद्धयादि के योग अथवा चित्त की एकाग्रता की अपेक्षा करता है[1]"। इसी प्रकार, अथर्ववेद के १५ वें काण्ड में जो व्रात्य के प्राण, अपानादि का निरूपण किया गया है[2] उससे भी योगमार्ग-संबंधी ज्ञान का परिचय मिलता है। 'बृहदारण्यक उपनिषत्' के चौथे 'ब्राह्मण' में जो "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि"[3] आदि वाक्य आता है उसके भी द्रष्टव्यः (दर्शनीय) तथा निदिध्यासितव्यः (बार-बार ध्यान किये जाने योग्य) से उस काल में योगमार्ग का महत्त्व सूचित होता है। फिर क्रमशः पातंजल योग के रूप में इस मार्ग की दार्शनिक व्याख्या की गई और ध्यानयोग, मंत्रयोग, लययोग एवं हठयोग जैसे कई प्रकार के भिन्न-भिन्न योगों की चर्चा पृथक्-पृथक् भी की जाने लगी।

वैदिक युग के आर्य पहले अग्नि, इंद्र, वरुण, रुद्र एवं विष्णु जैसे अनेक

---

[1] **यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योग मिन्वति" (ऋग्वेद, मं० १ सूक्त १८ मंत्र ७)**

[2] **अथर्ववेद (कां० १५ सू० १ (१५, १६)**

[3] **'बृहदारण्यकोपनिषत्' (अध्यायन्, ब्राह्मण ४ (५))**

दोनों की उपासना उनके पृथक्-पृथक् रूपों में किया करते थे और उन्हें वस्तुतः जड़ पदार्थवत ही माना करते थे। किंतु पीछे चलकर उन्होंने उन्हें केवल 'एक' ही आत्मा के अनेक रूपों में स्वीकार कर लिया जिस कारण उस 'एक' परमात्मा की भी उपासना होने लगी। इस परमात्मा में भी जहाँ किसी-किसी ने उक्त सभी उपास्य देवों के गुण आरोपित किये वहाँ दूसरों ने उनके अनेकत्व में ही इसके एकत्व की कल्पना कर डाली, इस प्रकार प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार जहाँ किसी एक सगुण एवं साकार ईश्वर का आदर्श बना और उसके प्रति भक्ति-भाव प्रदर्शित किया जाने लगा वहाँ दूसरी ओर उसे कोई आकार-प्रकार देने की आवश्यकता ही नहीं समझी गई और उसकी उपासना साधक को किसी न किसी भावना विशेष को महत्त्व देती जान पड़ी। उपनिषदों एवं गीता के समय तक इन दोनों में कोई स्पष्ट अंतर नहीं प्रतीत होता था, किंतु, वैष्णवधर्म के व्यूहवाद और अवतारवाद संबंधी धारणाओं का अधिक प्रचार हो जाने पर, तथा ललित कलाओं की उन्नति के साथ-साथ, उक्त वैदिक उपासना के दो भिन्न-भिन्न रूप बन गए और उन्हें क्रमशः सगुण भक्ति एवं निर्गुणोपासना के नाम भी दे दिये गए। भक्तिमार्ग की एक विशेषता इस बात में भी लक्षित हुई कि सगुण भक्ति के व्रत, पूजन, अर्चनादि के विषय में यह कर्मकांड के निकट था, निर्गुणोपासना की भावनाओं में यह ज्ञानकांड के मेल में आ जाता था और इसे बहुत कुछ सहायता योगमार्ग से भी मिल जाती थी।

भक्ति-मार्ग में हृदयपक्ष की प्रधानता थी और इसका साधक अपने इष्टदेव के प्रति श्रद्धा के भाव व्यक्त करता था। वह उसका आत्मीय था और उसके लिए सभी कुछ था तथा उसीकी उपलब्धि को वह अपनी साधना का चरम लक्ष्य मानता था। वैदिक साहित्य में इस भाव के उदाहरण अधिक नहीं पाये जाते और न इसका रूप ही उनका निखरा हुआ प्रतीत होता है। वहाँ पर बहुधा इस प्रकार के कथन मिलते हैं—"वह इष्टदेव परमात्मा केवल उसीको प्राप्त होता है जिसे वह स्वयं वरण किया करता है और उसीके लिए वह अपने रूप को अथवा रहस्य को प्रकट भी करता है।[1]" "मैं मुमुक्षु अपनी बुद्धि को

[1] 'मुण्डकोपनिषत् (३-२-३)

प्रकाशित करने वाले उस देव की ही शरण ग्रहण करता हूँ।[1]" तथा, जिस व्यक्ति की परमेश्वर में अनन्य भक्ति है और जैसी परमेश्वर में है वैसी ही गुरु में भी है उस महापुरुष के ही प्रति इस प्रकार के रहस्य प्रकट हुआ करते हैं।[2]" 'श्रीमद्भगवद्गीता' के अंतर्गत इस भाव का परिचय कुछ अधिक विस्तार के साथ मिलता है, किंतु वहाँ पर भी भक्ति-मार्ग की समुचित व्याख्या की गई नहीं पायी जाती। वहाँ पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति कहा है, "यदि कोई मेरे स्वरूप को भक्ति के साथ तत्त्वतः जान लेता है तो वह उसके अनंतर मुझमें प्रवेश कर जाता है।[3]" और, "तुम सभी धर्मों का परित्याग करके मेरी शरण में ही आ जाओ, मै तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूगा, सोच मत करो।[4]" इस प्रकार ऐसे कथनों में भक्ति के शरणागति तत्त्व का अंश तो आ जाता है, किंतु इसमें हमें उसके व्यापक रूप के दर्शन नहीं होते जो, प्रेम-भाव के भी समाविष्ट हो जाने पर, निर्मित होता है और जो सर्वप्रथम मध्यकाल में ही दीख पड़ता है।

वैदिक साहित्य में 'प्रेम' शब्द का अभाव-सा है। 'प्रिय', 'प्रिया' 'प्रेय' अथवा 'प्रेष्ठ' जैसे शब्द भिन्न-भिन्न प्रसंगों में आया करते हैं। इनमें किसी व्यक्ति वा वस्तु के अच्छा लगने मात्र का बोध होता है; उसके लिए व्यक्त की जाने वाली अभिलाषा की भी ध्वनि नहीं निकलती। उस समय 'प्रेम' के अर्थ में कदाचित् 'काम' शब्द का प्रयोग होता था, जो 'कामना' का आशय प्रकट करता था। यह 'काम' शब्द जहाँ, एक ओर सृष्टि संकल्परूपी परमतत्त्व के लिए प्रयुक्त होता था[5] वहाँ, दूसरी ओर, इससे बने 'कामी' शब्द का अर्थ वासनामय पुरुष का भी लगता था।[6] उस समय पारस्परिक दाम्पत्य प्रेम की

---

[1] श्वेताश्वतरोपनिषद् (६-१८)

[2] वही, (६-२३)

[3] श्रीमद्भगवद्गीता (१८-५५)

[4] वही (१८-६६)

[5] अथर्व वेद (कां० २१ सू० ५२ मं० १)

[6] ऋग्वेद (मण्डल ५ सू० ६१ मं० ७)

तुलना के लिए चकवा-चकवी के जोड़े का उदाहरण उपस्थित किया जाता था[1] और श्यावाश्य आत्रेय जैसे व्यक्ति की प्रेम कहानी में, अपनी प्रेम-पात्री के लिए तपस्या करने तक का वर्णन आ जाता था।[2] फिर भी 'प्रेम' शब्द का प्रयोग ऐसे अवसरों पर भी किया गया नहीं मिलता और न इसका कोई रूप हमें वैसे प्रसंगों में ही उपलब्ध होता है जहाँ पर यमी अपने सगे भाई यम के लिए काम पीड़ित हो जाती है[3] अथवा जहाँ पुरुरवा उर्वशी पर अनुरक्त होता दीखता है।[4] प्रेम शब्द के प्रयोग, संस्कृत साहित्य में, बहुत पीछे चलकर मिलते हैं और वे भी अधिकतर उसकी काव्य-रचनाओं में ही उपलब्ध होते हैं। भक्ति का वह रूप जिसमें इष्ट के प्रति प्रेम-भाव की भी अभिव्यक्ति हो बहुत प्राचीन प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत इसकी स्पष्ट चर्चा वस्तुतः उस समय से ही सुन पड़ती है जब हमारे इतिहास के मध्यकाल का आरंभ होने लगता है और इसे कई बातों से प्रेरणा भी मिल जाती है।

[२]

भारतीय इतिहास के मध्यकाल का आरंभ ईसा की ७ वीं शताब्दी से समझा जाता है और वह उसकी १८ वीं शताब्दी तक जाता है। कन्नौज के प्रसिद्ध महाराज हर्षवर्धन ने सन् ६४८ ई० तक राज्य किया और वे एक विस्तृत साम्राज्य के शासक थे। उनकी मृत्यु के अनंतर कन्नौज में उस प्रकार की प्रभुता फिर नहीं आ सकी और वह क्षेत्र भिन्न-भिन्न राजवंशों की भोगलिप्सा का केंद्र-सा बन गया। ८ वीं शताब्दी में यशोवर्मन् ने स्थिति के सँभालने की चेष्टा की और वे कुछ दूर तक सफल भी रहे, किंतु पश्चिम के गुर्जर-प्रतिहार वंश, पूर्व के पालवंश, दक्षिण के राष्ट्रकूटों एवं कश्मीर के ललितादित्य जैसे नरेशों की प्रति-

---

[1] **अथर्ववेद (कां० १४ सू० २ मं० ६४)**

[2] **वृहद्देवता (५-५०-८१) श्रौत-सूत्र (१६-११-१)**

[3] **ऋग्वेद (१०-१०)**

[4] **वही, (१०-६५) और (५-४१-१६)**

द्वंद्विता के कारण वह डावांडोल ही बनी रही। उत्तर से दक्षिण तक सारा देश, भिन्न-भिन्न समय में, विविध राजवंशों के अधीन होता गया और विभिन्न राज्य स्थापित होते गए। प्रत्येक राजवंश की अभिलाषा अपने पड़ोसियों पर प्रभुत्व जमाने की रहा करती थी और वह इसके लिए युद्ध किया करता था। ऐसे ही समम में बाहर से मुसल्मानों के आक्रमण भी आरंभ हो गए और १३ वीं शताब्दी से उनके शासन की नीवँ पड़ गई। सन् ६०० से लेकर सन् १२०० ई० तक का समय साम्राज्य स्थापना के लिए विविध सामंतों के संघर्ष का युग समझा जाता है। मध्यकाल के उत्तरार्द्ध अर्थात् सन् १२०० से लेकर सन १८०० ई० तक के युग में मुस्लिम साम्राज्य का क्रमिक उत्थान एवं पतन हुआ। इसके अंतिम दिनों में सामंती शासन एक बार फिर स्थापित होने लगा था, किंतु आधुनिक काल के प्रवेश द्वारा उसकी आशा भंग हो गई।

सामंतों के पारस्परिक संघर्ष ने उन्हें, एक को दूसरे से बढ़कर, प्रदर्शित करने की ओर उभाड़ा। फलतः प्रत्येक नरेश अपने-अपने यहाँ ऐश्वर्य एवं भोगलिप्सा की सामग्री भी एकत्र करने लगा। उसके निकट चाटुकार प्रशंसकों के ऐसे-ऐसे दल जुटने लगे जो न केवल उसे युद्धों के लिए उत्तेजित करते थे, अपितु उसे सुखोपभोगों की ओर सदा आकृष्ट भी करते रहते थे और इस प्रकार के भुलावों में मग्न रहना वह अपना परम सौभाग्य माना करता था। कई बार तो ऐसा भी हुआ कि इन राजाओं ने अनेक युद्ध केवल सुंदरी रमणियों को हस्तगत करने के लिए ही ठाने और युद्धों में प्रदर्शित वीरता एवं प्रेम-संबंधी कार्य-कलाप का कुछ ऐसा विचित्र गठबंधन हुआ जो पीछे प्रचुर साहित्य का विषय भी बन गया। उनकी प्रेम-कहानियों के आधार पर अनेक लोकगीतों की रचना होने लगी तथा रासो ग्रंथ भी बनने लगे। भारतवर्ष उन दिनों धन-धान्य सम्पन्न था और वाणिज्य-व्यापार की भी कमी नहीं रहती थी। अतएव, कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता था कि जिसप्रकार समरांगण में लड़ने के लिए सिपाही निकला करते थे और अपने मालिकों के लिए युद्ध करते-करते अन्य प्रदेशों तक में बहुत-सा समय लगा देते थे उसी प्रकार विविध व्यवसायों के लिए बाहर जाने वाले वणिकों को भी करना पड़ता था। इन दोनों ढंग के प्रवासी पतियों के

वियोग में उनकी पत्नियाँ झूरा करती थीं तथा उन्हें बार-बार स्मरण कर बिलखतीं अथवा उनके प्रति संदेशादि भेजने की चेष्टा में लगी रहती थी। उनकी विरह-वेदना एवं विरह-निवेदन का विषय लेकर भी बहुत से गीतो की रचना होने लगती थी।

मध्ययुग के पूर्वार्द्धकालीन जीवन की उपर्युक्त परंपरा, कुछ परिवर्त्तित रूप में, उसके उत्तरार्द्धकाल तक चलती रही। सामंतो का स्थान इस काल के अधिक वैभवशाली मुस्लिम सुलतानों एवं बादशाहों ने ले लिया। वे अपने को इस देश का केंद्रीय शासक तथा सूत्रधार मानकर कार्य करना चाहते थे और अपनी साम्राज्य लोलुपता के वश में दूसरो को नीचा दिखाते रहते थे। इसलिए उनकी मनोवृत्ति के पीछे प्रभुत्व-प्रदर्शन की लालसा का काम करना और भी अधिक स्वाभाविक था। वे अपने को न केवल सैन्य-वृद्धि द्वारा सुसज्जित करते रहते, अपितु विभिन्न कलाकारो को प्रोत्साहन प्रदान कर उसके द्वारा यशस्वी भी बना करते। ये कलाकार अपने आश्रयदाताओं के प्रति स्वभावतः आभार-प्रदर्शन किया करते और उन्हें उच्चातिउच्च पदवी देते रहते जिससे उनकी बहक बराबर उत्तेजित होती रहती और वे एक स्वच्छन्द विलासप्रिय जीवन की ही ओर नित्यशः लुढ़कते चले जाते। इसके सिवाय उन मुस्लिम शासकों को इन बातों में अपने मज़हबी संस्कारों से भी बहुत बड़ी सहायता मिलती थी। यौन-सबंध के निर्वाह में उनके यहाँ किसी निश्चित मर्यादा का पालन आवश्यक न था और न वहाँ एक पत्नीव्रत का ही कोई महत्त्व था। संगीत एवं चित्रकलादि के संबंध में निर्दिष्ट मज़हबी नियमों में शिथिलता के आते ही उस विषय में और भी छूट मिल गई। भिन्न-भिन्न परिवारों की सुंदरियों के साथ रमण करने की प्रवृत्ति में उन्हें सदा प्रोत्साहन मिलता गया और वे दूसरों के भी आदर्श बनते गए जिस कारण उस समय के मध्यम वर्ग वाले समाज के लिए विलासप्रियता एक प्रकार की लोकाचार-सी हो गई।

मध्ययुग का पूर्वार्द्धकाल वह समय था जब कि बौद्धधर्म का ह्रास अभी कुछ ही पहले से आरंभ हुआ था। उसकी तथा जैनधर्म की भी बहुत सी बातें क्रमशः हिंदूधर्म में लीन होती जा रही थीं और वैदिक एवं पौराणिक परंपराओं

के पुनरुद्धार का नारा लग रहा था वैदिक साहित्य का महत्त्व उस काल में इतना बढ़ चुका था कि दार्शनिक सूत्रों के भाष्यकार तक सदा उसीके प्रसंग छेड़ा करते थे। इस काल में अनेक धर्म-सुधारक हुए जिन्होंने अपने मतों का समुचित प्रचार करने के प्रयत्न में सामंजस्य की स्थापना करनी चाही और अपनी साधना-पद्धति के अंतर्गत ऐसी बातों का समावेश किया जो प्रस्तुत लोक-जीवन के अनुकूल पड़ती थीं। यह समय उस पौराणिक साहित्य के निर्माण का भी युग था जिसके द्वारा धर्म की अनेक गूढ़ समस्याओं के समाधान की चेष्टा की गई। परमात्मा का जो रूप दार्शनिक तथा केवल ज्ञानगम्य मात्र समझा जाता था उसे न केवल विग्रहवान् बना दिया गया, अपितु पुराणों द्वारा उसके ऐसे अनेक रूपों की भी कल्पना कर ली गई जो अवतार बन कर उसका प्रतिनिधित्व भी करने लगे। धार्मिक व्यक्तियों की यह धारणा बन गई कि इस प्रकार के अवतार सदा धर्म-रक्षा के लिए अवतीर्ण होते हैं। वे न केवल दुष्टों का दमन करते तथा साधु-समाज को सुव्यवस्थित करते हैं, अपितु मानवों के बीच रहकर उन्हें आदर्श जीवन की शिक्षा भी देते हैं। जन्मकाल से लेकर उनके अंतर्धान होने तक उनका सारा आचरण मानवोचित ही बतलाया जाता था, किंतु उनकी प्रत्येक चेष्टा में किसी ऐसी अलौकिकता का आभास करा दिया जाता था जिससे उनके देवत्व में भी किसी संदेह को स्थान नहीं मिलता था, अवतारों के पारिवारिक जीवन की कल्पना के लिए एक आधार इस बात का भी मिल जाता था कि इस काल के बहुत पहले से ही भारत में शक्तितत्त्व की धारणा प्रतिष्ठित हो चुकी थी जिसे, सृष्टि के विकास की मूल प्रेरणा के रूप में, स्वीकार किया गया था। तंत्र-साहित्य में उसीको नारी रूप भी प्रदान कर दिया गया और वही बहुदेववाद एवं अवतारवाद के लिए देवियों के रूप में आ बैठी। शिव के साथ वह पहले केवल 'शक्ति' नाम से ही दीख पड़ती थी, किंतु विष्णु के साथ वह लक्ष्मी बन गई तथा, इसी प्रकार ब्रह्मा के साथ सरस्वती, राम के साथ सीता एवं कृष्ण के साथ राधा नाम से प्रचलित हो चली। देव-दम्पतियों तथा अवतार-दम्पतियों में केवल इतना ही अंतर था कि प्रथम के निवास का स्थान जहाँ किसी परोक्ष लोक में समझा जाता था और वे चिरस्थायी भी माने जाते

थे वहाँ अवतार-दम्पतियों का लीला-क्षेत्र भूमंडल भी मान लिया जाता था और उनके लिए प्रत्यक्ष मानव जीवन की कल्पना कर कभी-कभी उनकी संततियों तक का वर्णन कर देना अप्रासंगिक नहीं समझा जाता था।

अवतार-दम्पतियों के मानवीकरण का सबसे प्रमुख कारण यह बतलाया गया था कि वस्तुतः वे ऐतिहासिक दम्पति भी थे और उनके संबंध में, इसीलिए, यह कहना कहीं अधिक समीचीन हो सकता है कि उन आदर्श व्यक्तियों का ही दैवीकरण किया गया था। फिर भी पौराणिक साहित्य के रचयिताओं ने इस बात को पूर्णतः स्पष्ट कर देने का प्रयत्न कभी नहीं किया और वे उनके चरित्रों का वर्णन करते समय उनके ऊपर एक ऐसा धूपछाँही आवरण डालते चले आये जिसके किसी भी एक अंश पर अपनी दृष्टि जमाकर सारे रहस्य को समझ पाने की चेष्टा करना, कम से कम, चमत्कार चकित, किंतु साथ ही श्रद्धालु, भक्तों के बूते की बात नहीं रह गई। 'श्रीमद्भागवत' पुराण के रचयिता ने उसके दशम् स्कंध में श्रीकृष्णावतार की कथा विस्तार के साथ लिखी है और ऐसा करते समय उसने श्रीकृष्ण के पूर्वज, माता-पिता तथा सगे-संबंधियों का परिचय तथ्य के रूप में दिया है और उनकी विविध केलि-क्रीड़ाओं तक के वर्णन कर उन्हें प्रकृत रूप में दर्शाने की चेष्टा की है। परंतु इसके साथ ही वह सब कहीं उस पर एक प्रकार की अलौकिकता का रंग भी चढ़ाता गया है और श्रीकृष्ण के प्रति उनकी प्रेमिका गोपियों तक के द्वारा कभी-कभी ऐसे भावों का व्यक्तीकरण कराया है जिनसे प्रतीत होता है कि वे उन्हें सदा देवत्व प्रदान करने की ही धुन में रहा करती थीं।

'श्रीमद्भागवत' पुराण मध्यकालीन युग के लिए कदाचित् सब से महत्त्व-पूर्ण भक्ति-ग्रंथ सिद्ध हुआ। इसके आदर्श पर अथवा इसके विषय एवं वर्णन-शैली का अनुसरण करते हुए अन्य कई पुराणों की भी रचना की गई। इसकी विविध टीकाएँ लिखी गईं, अनुवाद किये गए तथा इसकी कृष्ण-कथा के आधार पर उस अवतार का गुणानुवाद प्रायः प्रत्येक प्रचलित भाषा में किया जाने लगा। इस प्रकार एक ऐसे भक्ति-साहित्य की सृष्टि हो गई जिसका प्रभाव संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, आदि पर भी पड़ने लगा। मध्यकालीन भारत में

जहाँ एक ओर श्रीरामानुजाचार्य आदि धर्म-सुधारक भक्ति-तत्त्व का प्रतिपादन अपने दार्शनिक भाष्यों द्वारा, कर रहे थे और उसकी व्याख्या नारद, शाण्डिल्य आदि के भक्ति-सूत्रों द्वारा होती जा रही थी वहाँ इस प्रकार के साहित्य ने, विविध रोचक कथाओं के आधार पर उसका स्पष्टीकरण भी कर डाला और इस बात में उक्त कलाओं ने इसे पूर्ण सहयोग प्रदान किया। भक्ति की सरिता बहुमुखी होकर विविध स्रोतों द्वारा एक साथ फूट निकली और धार्मिक क्षेत्र को वह सभी ओर से आप्लावित करने लगी जिसका परिणाम यह हुआ कि जिन लोगों के इष्ट-देव श्रीकृष्णावतार से भिन्न थे अथवा जो वैष्णव संप्रदाय से भिन्न वर्गों के अनुयायी तथा अन्य धार्मिक विचार-धाराओं तक के समर्थक थे वे भी इसके न्यूनाधिक प्रभाव में आ गए। इसके रंग में न केवल पंचदेवोपासक ही सराबोर हुए अपितु वे लोग भी जो सदा निर्गुण, निराकर और निरंजन का नाम लिया करते थे और जिन्हें ज्ञान-मार्ग ही प्रशस्त जान पड़ता था इसकी ओर अपने-अपने ढंग से झुकने लगे। इसके कारण उन्हें एक निरे 'शून्य' तक को व्यक्तित्व प्रदान करना पड़ा और अद्वैत की भावना को 'अमृतोपम' द्वैतभाव में परिणत करना सह्य प्रतीत हुआ।

[३]

उपर्युक्त बातें, केवल भक्ति-तत्त्व के अंतर्गत प्रेम-भाव के भी आ जाने तथा इस प्रकार उसे अधिक व्यापक बना देने के ही कारण, संभव हो सकीं और इसके लिए मध्यकाल की परिस्थिति सर्वथा अनुकूल भी थी। नारद ने भक्ति की व्याख्या करते समय उसे 'परम प्रेम रूपा' बतलाया है और फिर 'अमृत-स्वरूपा' भी कहा है[1] जिससे प्रकट होता है कि प्रेमी भक्त एवं प्रेमास्पद भगवान् का नित्य एवं अविचल संयोग ही उसका परम ध्येय है। परंतु वे प्रेम की कोई परि-भाषा नहीं देते। वे प्रेमस्वरूप को केवल 'मूकास्वादनवत्', 'अनिर्वचनीय' कह कर ही रह जाते हैं।[2] वे इतना संकेत और भी देते हैं कि यह प्रेम अपने

[1] नारद भक्ति सूत्र (२ एवं ३)

[2] वही, (५१ एवं ५२)

पात्र में किसी गुण के रहने वा न रहने की अपेक्षा नहीं करता और न किसी प्रकार की कामना को लेकर उत्पन्न होता है। यह प्रतिक्षण सदा वृद्धिशील ही बना रहता है और उसकी अनुभूति इतनी सूक्ष्म हुआ करती है कि वह किसी विरले व्यक्ति में ही प्रकट हो पाती है।[1] शांडिल्य ने भी भक्ति को ईश्वर में 'परानुरक्ति' अथवा सर्वोत्तम एवं गंभीर अनुराग की संज्ञा दी है, किंतु 'अनुरक्ति' को पूर्णतः स्पष्ट नहीं किया है और न इस विषय पर लिखने वाले किसी अन्य व्यक्ति ने ही प्रेम का पूरा परिचय दिया है। आधुनिक लेखकों में से भी कुछ ने इसे या तो शुद्ध मनोवैज्ञानिक ढंग से देखा है अथवा इसकी अभिव्यक्ति को कतिपय भौतिक अथवा शरीरशास्त्र संबंधी नियमों पर आश्रित माना है और बतलाया है कि यह एक प्रकार की भूख है जिसकी अनुभूति प्रत्येक अवयव को हुआ करती है। प्रेम को भौतिक पदार्थ के मूलतत्त्वों में स्वभावतः निहित मानना चाहिए जो समय पाकर क्रमशः विकसित होता चला जाता है। फ्रायड जैसे मनोवैज्ञानिकों ने तो प्रत्येक भावपरक संबंध को ही यौन-संबंधी प्रेम पर आश्रित ठहराया है और बतलाया है कि वे सभी वस्तुतः कामवासना के ही परिमार्जित रूप हुआ करते है, किंतु समाजविज्ञान वाले इसे केवल सामाजिक संबंधों का एक भावपरक अंश मात्र ही माना करते हैं। इन आधुनिक विद्वानों के अनुसार प्रेम को बहुत बड़ा महत्त्व देने की कोई आवश्यकता नहीं है और इनमें से कुछ की यह भी धारणा है कि इसकी गंभीरता का क्रमिक ह्रास भी होता जा रहा है और एक दिन ऐसा भी आ सकता है जब इसका क्षेत्र केवल यौन-संबंध तक ही सीमित रह जायगा।

परंतु उपर्युक्त भक्तिवादी अथवा धार्मिक लेखकों की विचार-धारा इसके नितांत विरुद्ध जाती प्रतीत होती है। वे मध्यकाल से लेकर आज तक केवल इसी विश्वास पर दृढ़ चले आते हैं कि प्रेम न केवल एक सामाजिक महत्त्व का भाव है, अपितु यह मूलतः आध्यात्मिक भी है। भक्ति-भाव का वे इसे एक परमावश्यक अंग मानते हैं और कभी-कभी इसे उसकी अंतिम परिणति तक कह

[1] **नारदभक्तिसूत्र (५३ एवं ५४)**

डालना उचित समझते हैं । नारद जैसे लेखकों ने भक्ति की व्याख्या करते समय प्रेम को, उसके प्रेमलक्षणा होने के ही कारण, महत्त्व दिया था । वे भक्ति के अंतर्गत 'तदर्पिताखिला चारिता तद्विस्मरणे परम व्याकुलता'[1] अर्थात् भगवान् के प्रति अपने सभी कर्मों को अर्पित कर देना और उनके किंचिन्मात्र भी विस्मृत हो जाने से, अत्यंत व्याकुल हो उठना परमावश्यक मानते हैं, किंतु साथ ही उसे वैधी रूप देते भी जान पड़ते हैं । बंगाल के चैतन्य संप्रदाय वाले वैष्णवों ने भक्ति को सभी प्रकार से रागानुगा रूप दिया । 'श्री मद्भागवत' पुराण की गोपियाँ उनके लिए आदर्श बन गईं और उन्होंने गोपीभाव को सर्वश्रेष्ट कहकर उसकी पृथक् व्याख्या भी कर डाली । 'भक्तिरसामृतसिन्धु' के रचयिता ने भक्तिरस के अंतर्गत अनेक रसों का समावेश शास्त्रीय ढंग से करने के प्रयत्न किये और उन्हें क्रमशः मधुररस में परिणत किया । परंतु उन्होंने भी प्रेम का पृथक् परिचय देते हुए बतलाया कि जिस भाव द्वारा हमारी अंतरात्मा स्निग्ध कोमल एवं निर्मल हो तथा जिस पर ममत्व की गहरी छाप भी लगी हो उसीके गाढ़े रूप को हम प्रेम की संज्ञा देते हैं । जैसे,

सम्यङ् मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः ।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेम निगद्यते ॥

और, इसी बात को, प्रेम को भक्ति का चरमोत्कर्ष रूप सिद्ध करते हुए, 'चैतन्य चरितामृत' के रचयिता ने भी इस प्रकार कहा—

साधन भक्ति हइते हय रतिर उदय ।
रति गाढ़ हइले तारे प्रेम नामे कय ॥

अर्थात् भक्ति की साधना के अभ्यास द्वारा रति अथवा अनुराग का भाव उदय लेता है जो गाढा हो जाने पर 'प्रेम' नाम से अभिहित होता है । 'उज्वलनील मणि' के अनुसार जिस प्रकार बीज क्रमशः ईख, रस, गुड़, खांड, शर्करा, मिश्री एवं ओले में परिणत होकर अधिक निर्मल तथा सुस्वादु बन जाता है उसी

---

[1] **नारदभक्तिसूत्र (१६)**

प्रकार रति का भाव भी क्रमशः परिपक्व होता हुआ स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग एवं भाव में पर्यवसित हो जाता है और इस प्रकार की प्रौढ़ा रति को ही महाभावदशा कहा जाता है जिसकी अभिलाषा श्रेष्ठ भक्तों को ही होती है।

इयमेव रतिः प्रौढा महाभाव दशां व्रजेत्।
या मृग्या स्याद्विमुक्तानां भक्तानां च वरीयसाम्॥[1]

इस प्रकार की विचार-धारा वाले लेखक आधुनिक युग में भी कम नहीं हैं, किंतु वे इस बात को दूसरे ढंग से भी प्रकट करना चाहते हैं। वे प्रेम-भाव के विकास को भक्ति-साधना के स्तर से ही आरंभ न करके उसे और भी निम्न धरातल तक ले जाते हैं और फिर वहाँ से इसके क्षेत्र को क्रमशः विस्तृत करते हुए इसे ईश्वरीय प्रेम तक पहुँचा देते हैं। स्वामी अभेदानंद ने अपनी एक पुस्तक में[2] कहा है कि प्रेम अपने बीजरूप में छोटे से छोटे प्राणियों तक में पाया जाता है, किंतु वह उनके अपने शरीर तक ही सीमित रहा करता है और वह बच्चे उत्पन्न करने वालों में उनकी संततियों तक बढ़ जाता है। यहाँ तक उसका रूप केवल 'आसक्ति' मात्र का होता है और उसमें स्वार्थ की मात्रा इतनी रहती है कि उसे हम उच्चकोटि का भाव नहीं कह सकते। पशुओं के बच्चे अपनी माँ के प्रति आसक्ति का प्रदर्शन करते देखे जाते हैं, किंतु वह भी उनके पारस्परिक संबंध की ही परिचायक होती है। अपने आत्मीयों से भिन्न के भी लिए आसक्ति-प्रदर्शन केवल मानव-समाज में पाया जा सकता है जहाँ 'आकर्षण' भी काम करता है। यह आकर्षण लगभग उसी प्रकार का है जैसा विभिन्न भौतिक पदार्थों में भी दीख पड़ता है, भौतिक स्तर पर जिस ऐसी शक्ति को हम 'गुरुत्वाकर्षण' का नाम देते हैं प्रायः उसीको आत्मतत्त्व के स्तर पर 'प्रेम' कहा जाता है। परंतु स्वा० अभेदानंद के अनुसार यह मानवीय प्रेम भी स्वभावतः

---

[1] **'प्रेमिक गुरु' (निगमानन्द) पृष्ठ २१ पर उद्धृत**

[2] Human Affection and Divine Love (Calcutta) pp 7-35.

किसी बदले वा प्रतिफल की आशा रखा करता है। केवल ईश्वरोन्मुख प्रेम ही ऐसा है जिसमें इस प्रकार के किसी वणिग्भाव की आवश्यकता नहीं रहती और जो अन्य ऐसी बातों से भी सर्वथा अस्पृष्ट रहा करता है। ईश्वरीय प्रेम में किसी प्रकार का भय नहीं रहता, क्योंकि इसका आधार पूर्ण आत्म-समर्पण बन जाता है। इसके द्वारा हृदय नितांत शुद्ध एव निर्मल हो जाता है और उसमें किसी प्रकार के कपट, छल वा द्वेष मत्सरादि की वक्रता तक नहीं आ पाती। विश्वात्मरूप ईश्वर की ओर केंद्रित रहने के कारण यह विश्व-प्रेम का भी रूप ग्रहण कर लेता है और ऐसा प्रेमो स्वभावतः निर्वैरी और निष्काम भी बन जाता है। स्वा० अभेदानंद का यह ईश्वरीय प्रेम, वास्तव में, उपर्युक्त भक्ति-साधना का ही एक दूसरा नाम है और वही निर्गुण एवं निराकार के प्रति निर्गुणोपासना भी कहलाता है।

प्रेम की वैज्ञानिक व्याख्या करने वाले जहाँ उसे केवल यौन अथवा अधिक से अधिक एक साधारण सामाजिक संबंध की अंतःप्रेरणा तक ही प्रतिष्ठित करना चाहते हैं वहाँ मध्यकालीन भक्त उसे किसी परोक्ष सत्ता के प्रति दृढ़ व्यक्तिगत अनुराग के रूप में भी प्रदर्शित करते थे और इस माध्यम द्वारा ही उसे समाज से लेकर क्रमशः विश्व तक के प्रेम में पर्यवसित कर देते थे। यौन-संबंध में लक्षित होने वाले प्रेम को वे कम महत्त्व नहीं देते थे, किंतु वे केवल उसे शुद्ध, सहज एवं स्वार्थहीन रूप में ही देखना चाहते थे जिससे अंततोगत्वा उसका उपयोग उक्त व्यापक रूप में भी स्वभावतः किया जा सके। वैज्ञानिक व्याख्या करने वालों के प्रेम का स्तर यौन-संबंध के क्षेत्र से केवल इतना ही ऊपर उठता है कि वह सामाजिक क्षेत्र की पारस्परिक सहानुभूति एवं सहयोग का भी आधार बन जाता है, किंतु वह वणिग्भाव की वृत्ति का सर्वथा परित्याग नहीं कर पाता। परंतु मध्यकालीन भक्तों का आदर्श गोपीभाव न केवल 'कामगंधहीन' अपितु कामना रहित अथवा अहैतुक भी बतलाया जाता है। उसमें अपने प्रेमास्पद के प्रति सर्वथा 'अर्पितमनोबुद्धि' तथा 'अर्पिताखिलाचार' तक हो जाना पड़ता था जिससे वैसा प्रेमी जड़-यंत्रवत् बन जाता था और उसका अंतिम लक्ष्य अपने परोक्ष प्रेम-पात्र द्वारा अपना लिया जाना अथवा पूर्णतः

उसका हो जाना मात्र था। उसका दृढ़ विश्वास रहता था कि 'उसका अपना' बन जाने पर ही मुझे पूर्ण शांति और आनंद का अनुभव हो सकता है और इसीमें परम कल्याण भी है। ऐसे प्रेमियों का प्रत्यक्ष ध्येय विश्व कल्याण नहीं जान पड़ता और न वे उसके प्रति कभी सचेष्ट एवं सक्रिय बनते ही दीख पड़ते हैं। किंतु विश्वात्म के रूप में उक्त प्रकार से रँग जाने पर उनके लिए विश्व के प्रति ध्यान न देना भी कुछ असंगत-सा प्रतीत होगा।

नारद ने अपने 'भक्तिसूत्र' में भक्ति को जहाँ 'परमप्रेमरूपा' के अतिरिक्त 'अमृतस्वरूपा' भी कहा है वहाँ उन्होंने इसके आगे यह भी बतलाया है कि भक्ति को इस रूप में अपना लेने पर मनुष्य सिद्ध, अमर एवं तृप्त हो जाता है।[२] नारद के इस अमरत्व, का कदाचित् यह अभिप्राय नहीं कि ऐसे भक्त के जीवन का कभी अंत ही नहीं होता और वह अपनी उसी काया में अनंत काल तक वर्त्तमान रह जाता है। उनके उसे 'सिद्ध' एवं 'तृप्त' भी कह देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त दशा तक पहुँच जाने पर उसे केवल भौतिक वासनाओं के कारण उत्पन्न होने वाले मृत्युवत् दुःखों से सदा के लिए छुटकारा मिल जाया करता है। अमरत्व की एक भावना यह भी हो सकती है जो किसी साधक के, संसृति के चक्करों से मुक्त होने तथा निर्वाण की प्राप्ति से, संबंध रखती है। आधुनिक विचार-धारा के अनुसार इसे मनुष्य की पलायन वृत्ति का अंतिम आश्रय भी कहा जा सकता है। इसे उस परोक्ष प्रेमास्पद सत्ता के अंतर्गत, समुद्र में किसी बूँद की भाँति, विलीन हो जाना भी भले ही कह लिया जाय, वैसे अमरत्व की संज्ञा देना कभी उचित नहीं समझा जा सकता। यह तो उस स्थिति को पुनः वापस चला जाना मात्र है जिससे सृष्टि के आदि में क्रमशः विकास हुआ था। ऐसे अमर को नारद 'सिद्ध' अथवा 'तृप्त' नहीं कह सकते और न इन शब्दों की उस दशा के साथ कोई संगति ही बैठ सकती है। उसके द्वारा व्यष्टि एवं समष्टि के बीच कोई सामंजस्य बैठता भी नहीं प्रतीत होता जैसा नारद के उक्त शब्दों के

---

[१] **नारदभक्तिसूत्र (३)**

[२] **वही, (४)**

आधार पर कुछ संभव भी हो सकता है। व्यष्टि एवं समष्टि के बीच सामंजस्य की स्थापना तभी हो सकती है जब कॉडवेल के शब्दों में यह स्वीकार कर लिया जाय, "व्यक्ति, समाज के प्रत्यक्षतः विपरीत जाता जान पड़ने पर भी उसे भीतर से अनुप्राणित किया करता है और समाज भी स्वयं अपने आंतरिक विकास के आधार पर नव व्यक्तित्व का निर्माण करता रहता है।[1]"

प्रेम-भाव की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है कि उसमें किसी न किसी प्रकार से आनंद का अंश बराबर बना रहता है। प्रेमी को, अपने प्रेम-पात्र से वियुक्त होने पर भी, उसकी स्मृति सदा आनद-विभोर किये रहती है और वह उसके विरह में कष्ट झेलना तक सुखद समझता है। उसकी आतुरता में भी कभी नैराश्य की गंध नहीं आ पाती और वह सब कुछ खो देने पर भी एक अनोखी तृप्ति का ही अनुभव करता है। प्रेम-संबंधी भारतीय साहित्य में उक्त भाव को प्रकट करने के लिए, कदाचित्, 'प्रीति' शब्द का प्रयोग प्राचीनकाल से ही होता आया है जिसका एक अन्य पर्याय बहुधा 'तृप्ति', 'संतोष', 'आनंद' जैसे शब्दों का भी बतलाया जाता है। इसकी मूलधातु 'प्री' से ही अंग्रेजी शब्द 'फ्री' (Free) अर्थात् स्वतंत्र का संबंध ठहराया जाता है और इसी कारण 'फ्रेंड' (Friend) अर्थात् मित्र से अभिप्राय 'प्रेमी' का समझा जाता है। तदनुसार भारतीय प्रेम सदा सहजभाव को ही प्रकट करता रहा है और उसमें आत्मसमर्पण का भाव भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहा है। पुरुषों से कहीं अधिक सरल हृदय नारियों का इसके द्वारा प्रभावित होना, उनका अपने प्रेमास्पद के लिए सर्वस्व अर्पित कर देना, उसके ही सुख में शांति एवं संतोष का अनुभव करना तथा उससे किसी भी प्रकार के लाभ की अभिलाषा न करना आदि बातें इसीको सूचित करती हैं। प्राचीन काल के मानवीय प्रेम का सर्वोत्तम उदाहरण, इसी कारण, यहाँ वैवाहिक यौन-संबंध में ही पाया जाता है और मध्यकालीन ईश्वरीय प्रेम का भी

[1] Christopher Caudwell: 'Studies in a Dying Culture' (Current Book Distributors) p 87.

सबसे अच्छा प्रदर्शन केवल उसी जगह मिलता है जहाँ भक्त अपने भगवान् को कान्ताभाव से अपनाता है।

[४]

मध्यकाल का आरंभ होने के पहले से ही यहाँ भिन्न-भिन्न देवों तथा अवतारों के साथ उनकी शक्तियों का संबंध जोड़ा जा चुका था जिसका एक बहुत स्पष्ट प्रमाण हमें पहाड़पुर (बंगाल) की खोदाई द्वारा उपलब्ध हुआ है। वहाँ पर "एक युग्म मूर्ति, जो कि श्रीकृष्ण और राधा की कही जा सकती है, सबसे विशेष महत्त्व की है"[1] और उसका समय ईसा की छठीं शताब्दी के लगभग का अनुमान किया गया है। उन्हीं दिनों के आस-पास सुदूर दक्षिण भारत में वैष्णव एवं शैव संप्रदायों के अनुयायियों में भक्ति-साधना का आरंभ होने लगा था। उन अनुयायियों में प्रमुख नाम वैष्णव भक्त आड़वारों का आता है जो संख्या में बारह थे और सबके सब समकालीन भी नहीं थे। सन् १९२६ ई० के इलाहाबाद वाले ओरियंटल कान्फ्रेंस के अधिवेशन में एक निबंध पढ़ा गया था जिसका विषय दक्षिण भारत के वैष्णव संप्रदाय में नायक-नायिका भाव से सम्बन्ध रखता था जिसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—"आड़वारों के तामिल 'प्रबंधों' द्वारा सूचित होने वाले श्रीवैष्णव धर्म में एक विशिष्ट प्रकार के प्रेम का वर्णन है जो आत्मा एवं परमेश्वर के बीच उत्पन्न होता है। यह लगभग उसी प्रकार का है जैसा उत्तरी भारत के चैतन्यदेव ने भी प्रतिपादित किया था अंतर केवल इतना ही है कि यह विशिष्टाद्वैती ढंग का था। ....प्रसिद्ध वेदांतदेशिक ने इस बात की चर्चा अपनी 'गोदास्तुति' में की है। उनका कहना है कि गोदा के ये गुरु, अर्थात् आड़वार भक्त, भगवान् की उपासना करते समय अपनी भक्ति को यौन-सम्बन्धी प्रेम का रूप दे देते थे और उसके विरह-विषयक प्रेम-कथाओं द्वारा अपने हृदय को सान्त्वना भी दिया करते थे जिस बात की ओर 'द्राविड़ोपनिषत्संगति' ने भी संकेत किया है।

---

[1] 'गङ्गा-पुरातत्त्वाङ्क' पृष्ठ १२०

भगवान् के प्रति दाम्पत्य प्रेम के रूप में प्रदर्शित इस भाव का सबसे सुन्दर विवरण सर्व श्रेष्ठ आड़वार सरी शठगोप की रचनाओं में मिलता है। कहा जाता है कि नम्म आड़वार (अर्थात् शठगोप) भगवान् के प्रति, क्रमशः भरत, लक्ष्मण एवं सीता द्वारा राम के प्रति एवं गोपियों द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति, प्रदर्शित, विविध भावों को अपनाया करते थे और समझते थे कि पुरुष का रूप केवल भगवान् के ही उपयुक्त है और उनके समक्ष सम्पूर्ण विश्व स्त्रीवत् है। इस कारण भगवान् के प्रति गंभीर प्रेम के भाव में आकर शठारि स्वयं भी स्त्री का रूप धारण कर लिया करते थे।.........तामिल वैष्णवों के इस नायक-नायिका भाव से श्री शंकराचार्य भी भलीभाँति परिचित थे जैसा उनके 'श्री मद्भगवद्गीता-भाष्य' के एक प्रसंग से जान पड़ता है।"[1]

विद्वान् लेखक ने उक्त प्रकार के नायक-नायिका भाव की चर्चा परकाल अर्थात् तिरु मंगई आड़वार के विषय में भी की है। परकाल अंतिम आड़वार थे और उनका समय ईसा की ९ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। इनके कुछ ही पहले आंडाल अथवा गोदा आड़वार का आविर्भाव हुआ था जो, वास्तव में, स्त्री भक्त थीं और जो मेड़तणी मीराँबाई की भाँति उधर प्रसिद्ध हैं। गोदा के पिता पेरियाड़वार ने उन्हें श्रीरंगनाथ भगवान् के प्रति समर्पित कर दिया था जिन्हें उन्होंने पतिरूप में स्वीकार कर लिया था। गोदा ने अपने को प्रसिद्ध गोपियों में से किसी एक प्रेमिका के अवतार रूप में मान लिया था और उनका व्यवहार भी तद्रूप ही था। प्रो० हूपर का कहना है कि जिस प्रकार की भक्ति 'श्रीमद्भागवत पुराण' में बतलायी गई है वह ठीक-ठीक वही है जो आड़वारों की है—श्रीकृष्ण की मूर्ति की ओर टकटकी लगाये हुए गहरे भावों को व्यक्त करना, उसका गुणानुवाद करना, उसका ध्यान करना, उनके भक्तों के साथ सत्संग में निरत रहता रहना, प्रेम-भाव के साथ उनका आदर-सत्कार

[1] Manindra Mohan Bose: Quoted on pp 144-6 of 'Post Chaitanya Sahajia Cult of Bengal'.

करना और श्रीकृष्ण-लीला का वर्णन करते रहना आदि कुछ इस प्रकार की बातें हैं जो दोनों के यहाँ एक समान पायी जाती हैं।[१] यदि यह बात दोनों की तुलना करने पर सिद्ध की जा सकती है तो एक के दूसरे द्वारा प्रभावित होने तथा 'श्रीमद्भागवत पुराण' के रचना-काल पर भी प्रभाव डाल सकती है। डा० फर्कुहर का तो यहाँ तक अनुमान है कि इस पुराण की रचना किसी आड़्वार-तुल्य वर्ग के ही बीच हुई होगी।[२]

इन आड़्वारों की ही भाँति दक्षिण भारत के कतिपय शैव भक्त भी थे जो अप्पार, सम्बन्धार, नन्द, आदि नामों से प्रसिद्ध थे। अप्पार एवं सम्बन्धार का आविर्भाव ईसा की सातवीं शताब्दी के मध्यभाग में हुआ था। सुन्दरार एवं मनिक्कपाचगार इनके पीछे हुए। इनकी रचनाओं के अंतर्गत प्रेम-भाव के उतने उत्कृष्ट उदाहरण नहीं पाये जाते जितने नन्द के पदों में जो उन सभोके पीछे उत्पन्न हुए थे। नन्द जाति के पेरिया थे और अपने जाति भाइयों के मुहल्ले में ही बहुधा रहा भी करते थे। उनका कहना था, "भगवान् वस्तुतः सदा हमसे वार्त्तालाप किया करते हैं, हम लोग उनकी बातें सुन नहीं पाते और जिन वस्तुओं को हम उन्हें समर्पित करते हैं उन्हें वे उनके मूल्य के अनुसार ग्रहण नहीं करते प्रत्युत उनकी परख उस प्रेम एव पवित्र भाव द्वारा कर लेते हैं जिससे वे वस्तुएं उन्हे अर्पित की जाती हैं।"[3] नन्द ने एक बार किसी ब्राह्मण को परामर्श देते हुए इस प्रकार कहा भी था, "स्वामिन्, यह आपका तुच्छ दास केवल इतना ही बतला सकता है—भगवान् को अपनी पत्नी, अपने बच्चे, अपनी भू-संपत्ति एव धन की ही भाँति प्रेम-भाव के साथ देखिए। हे मालिक, यह अशिक्षित सेवक आपके

---

[१] J. S. M. Hooper : Hymns of the Alvars p 18.

[२] Religious Litrature of India' p 231 f.

[3] Nanda : The Pariah Saint (G. A.Natesan) p. 5.

निकट इससे अधिक और कह ही क्या सकता है ?"[१] नन्द नटराज शिव के उपासक थे और उनकी प्रेमलक्षणाभक्ति में आकर कभी गाते-गाते नाचने लगते थे और कभी चैतन्य देव की भाँति प्रेम-विभोर हो जाते थे। शैव तथा शाक्त भक्त उन दिनों अधिकतर तांत्रिक विचार-धारा से भी प्रभावित रहा करते थे। उनके द्वैत तंत्र, अद्वैत तंत्र तथा द्वैताद्वैत तंत्र नाम से अनेक प्रकार के मत थे और एक चौथा शैव तांत्रिक मत भी था जिसके साथ प्रसिद्ध अभिनव गुप्त का संबंध था।

तांत्रिकों में इस समय कतिपय बौद्ध लोग भी थे जो सिद्धों के नाम से अभिहित होते थे। इनका एक पृथक् संप्रदाय था जो वज्रयान के नाम से प्रसिद्ध था और जिसमें कुछ सुधार लाकर सहजयानियों ने अपना एक वर्ग पृथक् स्थापित कर लिया था। इन सहजयानियों की रचनाओं में जो 'चर्यागीतिका' तथा 'दोहा कोषां' के नाम से प्रकाशित हैं कुछ ऐसे स्थल आते हैं जिनमें दाम्पत्यप्रेम की कुछ गंध आती है और वे सिद्धों की महामुद्राओं वा योगिनियों के प्रति, उन्हें नैरात्मा का प्रतीक मानकर, व्यक्त किये गए कतिपय उद्गारों के रूप में हैं जिस कारण उन्हें प्रेम-साधना की चर्चा करते समय उद्धृत किया जा सकता है। किंतु उनकी साधना का रूप ऐसा नहीं है जिसे ईश्वरीय प्रेम की कोटि में रखा जा सके। इसके सिवाय उनकी शब्दावली में शुद्ध प्रेम की अपेक्षा काम-वासना की ही झलक अधिक दीख पड़ती है जिसका बहुधा योगपरक अर्थ भी किया जाता है। जैनधर्म के अनुयायी लेखकों की भी जो रचनाएं इस काल में निर्मित पायी जाती हैं उनमें भी अधिकतर श्रुतिपरक हैं; जो उपमिति कथाएं हैं उनमें प्रेम-कहानियां का वर्णन पाया जाता है, किंतु वे जैनधर्म की प्रशंसा एवं प्रचार के उद्देश्य से ही लिखी गई जान पड़ती हैं। कहा जाता है कि कन्नड़ भाषा के नेमिचंद्र ने इसी काल में 'लीलावती प्रबंध' नामक एक प्रेम-काव्य लिखा था तथा नागचंद्र ने अपनी 'रामायण' में भी प्रेम की चर्चा की है। किंतु इन रचनाओं अथवा स्वयंभू कवि के अपभ्रंश 'पउम चरिउ' में भी प्रेम-साधना का

---

[१] Nanda : The Pariah Saint (G. A. Natesan) 27.

स्पष्ट रूप लक्षित नहीं होता। उनमें प्रदर्शित प्रेम लौकिक प्रेम की ही कोटि में आता है, चाहे उनके रचयिताओं का उद्देश्य जैसा भी रहा हो। अपभ्रंश भाषा में लिखे प्रेमाख्यानों की कमी नहीं है और प्रेम की चर्चा कभी-कभी चरित-काव्यों में भी आ जाती है, किंतु उसमें प्रेमास्पद कभी भगवान् नहीं होते।

[५]

प्रेम-साधना के स्पष्ट रूप का दर्शन हमें सर्वप्रथम 'श्रीमद्भागवत' पुराण में ही होता जान पड़ता है जिसकी चर्चा इसके पहले की जा चुकी है। 'श्रीमद्भागवत' सम्भवतः मध्ययुग के आरंभ से कुछ पहले ही, अथवा अधिक से अधिक उसके आरंभ के साथ ही लिखा गया था। किंतु इसका प्रत्यक्ष प्रभाव मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में ही दीख पड़ा जब कि इसके न्यूनाधिक अनुकरण में अन्य पुराणों की भी सृष्टि होने लगी। संस्कृत में प्रेम-काव्यों की रचना इसके पहले से ही होने लगी थी, किंतु उनके नायक और नायिका को अवतारों के रूप में नहीं दिखलाया जाता था और न उनकी रचना के व्याज से भक्ति-साधना के तत्त्व का प्रतिपादन वा प्रचार किया जाता था। भारतीय समाज ने अवतारवाद को महत्त्व देकर जिस समय विभिन्न अवतारों के चरित्रों का वर्णन आरंभ किया उस समय उनकी अलौकिकता की ओर इसके ध्यान का जाना स्वाभाविक था, किंतु इसके साथ ही उसे उनकी लौकिकता को अक्षुण्ण बनाये रखने की भी आवश्यकता थी। फलतः एक ओर जहाँ ऐसी रचनाओं के अंतर्गत जातकों के चमत्कारपूर्ण वर्णनों का समावेश किया गया वहाँ दूसरी ओर उनमें प्रचलित प्रेम-काव्यों के आदर्श पर भी चरित्र-चित्रण करना पड़ा जिससे भक्तों की श्रद्धा के साथ-साथ साहित्यिक रस की पिपासा भी जागृत होती रहे और दोनों के सामजस्य द्वारा उनकी लोकप्रियता बढ़ती चले। ऐसी रचनाओं के लेखकों ने अवतारी नायकों को स्वभावतः अपने समक्ष शासन करने वाले ऐश्वर्य सम्पन्न सामंतों तथा अधिनायकों के बृहत् संस्करणों वा प्रतीकों के रूप में देखा। ये यदि शक्तिशाली थे तो वे सर्वशक्तिमान् थे, इनका शासन-क्षेत्र यदि किन्हीं प्रांतों वा प्रदेशों तक ही सीमित था तो उनके शासन के अधीन सारा विश्व था और वे जब और

जहाँ भी चाहें सभी कुछ करने को समर्थ थे। इनके कृत्य पर तो हम प्रचलित मर्यादा का कुछ न कुछ बंधन भी डाल सकते थे, किंतु उनके विषय में ऐसा सोचना तक कदाचित् उचित नहीं था। उनकी सभी ऐसी बातें उनकी लीलाओं की परिधि में आ सकती थीं और उनके ऊपर अलौकिकता का आवरण डालकर हम सबका समाधान भी दे सकते थे।

भक्तों ने अपने भगवान् के चरित्रों का वर्णन विशेष लगन के साथ किया और उसे उन्होंने उसके गुणानुवाद की संज्ञा दी। वे इस प्रकार के गुणानुवाद को अपनी भक्ति-साधना का एक बहुत महत्त्वपूर्ण अंग मानने लगे। वे कभी-कभी केवल इतना ही करके रह जाते और भगवान् से अपने लिए इसके फलस्वरूप कुछ याचना करना तक भूल जाते। भगवान् की शक्ति, उनके शील एवं सौंदर्य की महत्ता का विशद वर्णन करते-करते उन्होंने स्वभावतः उनकी लीलाओं के भी विवरण देना आरंभ किया और उनमें कृष्ण जैसे लीला पुरुषोत्तम अवतार की उन प्रेम-क्रीड़ाओं का भी समावेश किया गया जो तत्कालीन वातावरण के सर्वथा उपयुक्त था। श्रीकृष्ण की केलियों का वर्णन करते समय उन्हें प्राकृत पुरुष की भाँति चित्रित किया जाता, किंतु उनके अवतारी रूप की रक्षा भी की जाती। 'गीतगोविंद' नामक संस्कृत काव्य के रचयिता जयदेव कवि ने अपनी उस रचना के अंतर्गत श्रीकृष्ण एवं राधा की प्रेम-कथा लिखी। उन्होंने उसमें राधा की 'कन्दर्प ज्वर पीड़ा', श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ नृत्य-विलास एवं 'अनेक नारी परिरंभ' विषयक चेष्टाओं के वर्णन किये तथा उनके केलि-स्थल वृन्दावन का ऐसा बसंतकालीन चित्र खांचा जो केवल कामोद्दीपन के लिए ही उपयुक्त था। श्रीकृष्ण के विषय में, उनकी गोपियों के साथ केलि का दृश्य उपस्थित करते हुए, कहा गया—

'श्लिष्यति कामपि चुम्बति कामपि रमयति कामपि रामाम्'

अर्थात् किसी का आलिंगन करते हैं, किसी का चुंबन करते हैं और किसी-किसी के साथ रमण भी करते हैं जो, यदि इसे इसपर भगवान् की लीला मात्र का रंग चढ़ा कर न देखा जाय तो, उनकी विलासप्रियता का बहुत स्पष्ट उदाहरण समझा

जा सकता है। इस रचना में अन्यत्र इन शब्दों से भी कहीं अधिक नग्न चित्रण करने वाली पंक्तियाँ दीख पड़ती हैं।

फिर भी 'गीतगोविंद' के अंतर्गत हमें प्रेम-भाव का कोरा वासनात्मक वा कामुकतापरक रूप ही नहीं दिखलाई देता। इसमें श्रीकृष्ण एवं राधा की अत्यंत कोमल वृत्तियों का भी परिचय कराया गया है और इसमें चित्रित विरहिणी राधा का चित्र भी अत्यंत सुंदर और अद्वितीय है। इसकी प्रेमिका राधा साधारण कोटि की कामिनी नहीं है जो प्रायः किसी लौकिक स्वार्थ के वशीभूत हो जाती है। उसका प्रेम शुद्ध, निश्छल तथा अहैतुक है और पूर्णतः सहज एवं स्वाभाविक भी होने के कारण, सदा नवीन और एकरस बना रहता है। विरहिणी राधा की 'सहचरी' उसके निकट आकर श्रीकृष्ण की, अन्य अनेक गोपियों के साथ की जाने वाली, प्रेम-केलि का पता देती है। उसके शब्दों में यह एक ऐसा मनोमोहक आकर्षण है जो साधारण युवतियों की द्वेषाग्नि को बड़ी सरलतापूर्वक प्रज्वलित कर सकता है। किंतु राधा उस समय, प्रेमोन्मादिनी बनी रहने पर भी, उससे केवल यही अनुरोध करना उचित समझती है—

गोविंदं व्रज सुंदरीगणवृतं पश्यामि हृष्यामि च।

अर्थात् चलो मैं गोविंद को, उन प्रेमिकाओं से घिरे हुए और उनके साथ प्रेम-क्रीड़ाओं में निरत रूप में ही देखूँगी और उससे आनंदित हूँगी। वह श्रीकृष्ण के प्रति अपने को सर्वतोभावेन समर्पित कर चुकी है और उनकी हो चुकी है; वह कृष्णमयी है, उसके पास अपने निजी सुखों का अनुभव करने वाला कोई व्यक्तित्व ही नहीं रह गया है। राधा यहाँ पर एक परकीया नायिका बनकर हमारे समक्ष नहीं आती, वह 'भगवान्' श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति है जिसे भक्तों ने कल्पित किया है। कवि जयदेव के लिए उसके इसी रूप का ही अधिक महत्त्व है और इसी कारण वह राधा एवं माधव की, यमुना के किनारे संघटित होने वाली, गुप्त प्रेम-केलियों की जय भी मनाता है—

राधामाधवयोर्जयन्ति यमुना कूले रहः केलयः।

कवि जयदेव की यह रचना मध्यकालीन मनोवृत्ति के इतनी अनुकूल जँची कि वह न केवल वैष्णव भक्त-कवियों के लिए, अपितु शुद्ध शृंगार की दृष्टि

से काव्य रचना में प्रवृत्त होने वालों के लिए भी आदर्श बन गई। इसके भाव, इसकी भाषा एवं कथन-शैली द्वारा गुजरात से लेकर असम तक के कवि प्रभावित हुए और उनकी पदावलियों का संगीत सर्वत्र एक स्वर से गूँजता हुआ मध्यकालीन जनसाधारण तक के हृदय को आकृष्ट करने लगा। प्रेमिका गोपिकाओं के जिस प्रेम अथवा 'गोपीभाव' को 'श्रीमद्भागवत' पुराण ने महत्त्व दिया था वह अब 'राधाभाव' की एकांतनिष्ठा के रूप में और भी अधिक सान्द्र एवं गंभीर हो गया। राधा भी पहले, कदाचित्, कोई गोपी मात्र ही मानी गई थी और उक्त पुराण में उसके नाम का कहीं उल्लेख तक नहीं है। उसमें जहाँ केलि-रत कृष्ण के, गोपियों को अचानक छोड़कर, अंतर्हित हो जाने की चर्चा की गई है वहाँ कहा गया है कि वे प्रेमिकाएं विरहिणी बनकर वृन्दावन में इतस्ततः उन्हें ढूँढती फिरने लगीं और वे पगली-सी भी बन गईं। ऐसी ही स्थिति में रहते उन्हें वहाँ कहीं कोई पद-चिह्न दीख पड़े जिन्हें उन्होंने श्रीकृष्ण के चरणों के चिह्न समझा। किंतु उसके निकट ही किसी युवती के पद-चिह्नों को भी पाकर वे आश्चर्य चकित हो गईं और सोचने लगीं कि, हो न हो, ये किसी ऐसी प्रेमिका के हैं जो हमारे प्रियतम 'नन्दसूनु' के साथ उसी प्रकार चली होगी जिस प्रकार कोई हथिनी किसी हाथी के साथ चला करती है। अतएव,

अनयाराधितो नूनं भगवान्हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो याम न यद्रहः ॥२८॥[1]

अर्थात् इस प्रेमिका ने भगवान् हरि को अवश्य 'आराधित' (पूजित वा सन्तुष्ट) कर लिया होगा जिससे इस पर प्रसन्न होकर उन्होंने हमें छोड़ दिया होगा और प्रसन्न होकर उसे किसी संकेत-स्थल में वे ले गये होंगे। इसके अनंतर लिखा मिलता है कि उस गोपी ने श्रीकृष्ण के अपने प्रति इस प्रकार अधिक प्रेम प्रदर्शित करने के कारण, अपने को 'सभी स्त्रियों में श्रेष्ठ' समझ लिया और वह गर्विणी बनकर उनसे कहने लगी कि अब मैं चल नहीं पाती मुझे कंधे पर चढ़ा कर ले चलो और उसके गर्व-हरणार्थ वे पुनः अंतर्हित हो गए। अनुमान किया

[1] **'श्रीमद्भागवत' (दशम स्कन्ध, पूर्वार्द्ध, अध्याय ३० श्लोक २८)**

जाता है कि श्रीकृष्ण को 'आराधित' करने वाली उसी गोपी का नाम 'राधा' रहा होगा और उसके उपर्युक्त अवसर पर उनकी सर्वाधिक प्रेयसी बन जाने के ही कारण, उसके साथ उनकी मूर्ति पहाड़पुर वाले प्राचीन मंदिर में बनायी गई थी।

उस राधा को केवल 'गीतगोविंद' के रचयिता ने ही अमर नहीं किया प्रत्युत उसे 'ब्रह्मवैवर्त्त' पुराण जैसे ग्रंथों ने भी विशेष महत्त्व दिया। ऊपर लिखित रूप से 'गीतगोविंद' का प्रभाव पड़ जाने पर वह कम से कम कृष्ण भक्तों के लिए तो, आदर्श उपासिका बन गई। जिस कांतासक्ति का प्रदर्शन गोदा आड़वार ने स्त्री रूप में तथा नम्म आड़वार ने पुरुष होकर भी किया था वह 'मधुरभाव' वा 'मधुररस' में परिणत हो गई और दाम्पत्य भाव को पीछे आने वाले भक्तों ने राधा के आदर्श पर ही सर्वश्रेष्ठ मान लिया। इन भक्तों के ऐसा करने का एक और भी कारण हो सकता है जो कम महत्त्व का नहीं है। भारतीय भक्ति-साधना में भक्तों के आत्म-समर्पण को सदा सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता आया है। गीता में श्रीकृष्ण का 'मय्यर्पितमनोबुद्धि' जैसे शब्दों में किया गया अर्जुन के प्रति उपदेश, गोदा की रंगनाथम् के प्रति आत्मसमर्पण की भावना, श्रीवैष्णव संप्रदाय की 'प्रपत्ति' भाव के प्रति आस्था एवं पिछले भक्तों द्वारा भी प्रदर्शित 'शरणागति' की महत्ता द्वारा यह बात भलीभाँति प्रमाणित हो जाती है। आत्म-समर्पण का यह भाव जितना भारतीय नारियों के हृदय में पाया जाता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। अपने पति की चिता तक पर आत्मोत्सर्ग करने की प्रथा भारतीय समाज में ही प्रचलित रहती आई है जो इसके लिए सबसे ज्वलंत प्रमाण है। 'श्रीमद्भागवत' ने इन्हीं भारतीय नारियों के उत्कट एवं गभीर प्रेम का चित्रण परकीया प्रमिका के रूपमें में भी करके उनकी प्रेमलक्षणाभक्ति का परिचय दे दिया और भावुक भक्तों के हृदय पर इसका इतना चमत्कारपूर्ण प्रभाव पड़ा कि उन्होंने इसे सर्व श्रेष्ठ मानकर अपना लिया।

राधा एवं कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का वर्णन वैष्णव कवियों की काव्य-रचना का प्रधान विषय बन कर बहुत दिनों तक प्रसिद्ध रहा। सुदूर महाराष्ट्र की ओर महानुभाव पंथ के अनुयायियों ने इसे महत्त्व प्रदान किया और गुजरात के भक्त नरसी मेहता ने इसे विस्तृत रूप में अपनाया, नरसी ने अपने पदों में इन

ग़ीलाओं का वर्णन करते समय जयदेव का अनुसरण किया है और कई स्थलों पर काम-केलि का नग्न चित्र तक खींचा है जो गुजराती साहित्य में ही प्रसिद्ध 'उघाड़ो शृंगार' का स्पष्ट उदाहरण बन जाता है। साधारण प्रकार की कुछ पंक्तियां ये हैं—

कुंज समिपे आविमा कुंवरीणे तेडी कुमार।
एकान्त स्थाने रची शैया, मलो करे रे बिहार।
भूधर भीडी हृदंशुं, चुंबण लीधुं गाल।
रसीओ ते रसप्रीते पीए कंद्रप रस रसाल॥[1]

अर्थात् कुमार के साथ वह कुमारी फिर कुंज के निकट आयी, एकांत थान चुना गया, सेज बिछायी गई और वे बिहार करने लगे। कृष्ण ने राधा का आलिंगन कर लिया और उसके गालों का चुंबन किया। फिर उस रसिक ने मधुर मदनरस का आनंद पूर्वक पान किया। इस प्रकार के वर्णन हिन्दी के सूरदास आदि कवियों के लिए पीछे आदर्श रूप हो गए। इन्होंने श्रीकृष्ण की रास-लीला से लेकर मनिहारिन-लीला तक के प्रसंगों के विवरण प्रस्तुत किये तथा 'भ्रमरगीत' जैसे शीर्षकों में गोपियो द्वारा इसके आधारभूत सिद्धांतों का प्रतिपादन भी कराया। सूरदास के भ्रमरगीत में 'ऊधो' ने गोपियों के सामने ज्ञान का प्रसंग छेड़ा है और उन्हें कृष्ण-प्रेम से विरत करना चाहा है, किन्तु उनके साथ वार्त्तालाप करते-करते वे अंत में थक-से गए हैं और उन पर अपना कुछ भी प्रभाव नहीं जमा पाये हैं। गोपियां उनकी बहुत सुनने पर भी,

फिरि भयी मगन विरह सागर में, काहुहि सुधि न रही।
पूरन प्रेम देखि गोपिन को, मधुकर मौन गही॥

और, अंत में, उद्धव की यह दशा थी,

देखत ब्रज को प्रेम नेम कछु नाहिन भावै।
उमड़्यो नैननि नीर, बात कछु कहत न आवै॥

सूर की भी राधा की प्रेम दशा का चित्रण अन्य सभी गोपियों से कहीं

[1] 'Milestones in Gujerati Litrature' p. 42. f

अधिक उत्कृष्ट हुआ है। वह यहाँ भी आत्म-विभोर है। उसे अपनी चिंता किंचिन्मात्र भी नहीं और न वह प्रेम-रस का ही थाह लेना जानती है। उसकी तो यह दशा है,

राधेहि मिलेहु प्रतीति न आवति
यदपि नाथ बिधु बदन विलोकति दरसन को सुख पावति।
भरि भरि लोचन रूप परमनिधि उर में आनि दुरावति।
विरह विकल मति दृष्टि दुहूँ दिसि रुचि सरधा ज्यों धावति।
चितवत चकित रहति चित अंतर नैन निमेष न लावति।
सपनो आहि कि सत्य ईश यह बुद्धि वितर्क बनावति।
कबहुँक करति विचारि कौन हौं को हरि केहि यह भावति।
सूर प्रेम की बात अटपटी मन तरंग उपजावति॥

राधा से कृष्ण कुछ अधिक दूर नहीं जाते वे, मथुरा तक ही प्रयाण करते हैं, फिर भी उसका विरह अत्यंत गंभीर रूप ग्रहण कर लेता है। सूरदास के ही आदर्श पर परमानंददास, नंददास आदि कवियों ने भी पद-रचना की है और सबका दृष्टिकोण न्यूनाधिक एक समान रहा है।

परंतु राधा एवं कृष्ण की ये प्रेम-लीलाएं केवल इसी रूप में तथा उपर्युक्त प्रकार से ही उपयोग में नहीं लायी गईं। जयदेव के निकटवर्ती क्षेत्रों में ही जहाँ एक ओर गोविंददास आदि कवियों ने लगभग सूरदास के स्वरों में गान किया वहाँ दूसरी ओर चंडीदास तथा उनसे अनुप्राणित सहजिया वैष्णव कवियों की पंक्तियों में एक नवीन भाव-धारा का प्रभाव लक्षित हुआ। बंगाल एवं उत्कल प्रदेशों में ह्रासोन्मुख बौद्धधर्म के अवशेष चिह्न बहुत काल तक वर्त्तमान रहे जिनकी वहाँ के समाज एवं साहित्य पर गहरी छाप पड़ी। समाज में जिस प्रकार अंधविश्वास तथा रूढ़िरक्षा के दिन लद गए उसी प्रकार साहित्य में भी बहिर्मुखता की अपेक्षा अंतर्मुखी वृत्ति का महत्त्व कहीं अधिक बढ़ता दीख पड़ा और प्रतीक-बहुला शैली का प्रचार भी होने लगा। फलतः श्रीकृष्ण जो पहले एक अवतार के रूप में भगवान् बन चुके थे और उनकी प्रेमिका राधा उनकी चिर सहचरी समझी गई थी वे सहजिया वैष्णवों के लिए आदर्श प्रेमास्पद के प्रतीक हो गए

और उनके तथा राधा के प्रेम को इन भक्तों ने अपनी प्रेम-साधना का अंतिम साध्य बना डाला। इनका कहना था कि भगवान् ने जब अपने भक्तों पर अनुग्रह करके मानव शरीर धारण किया था और वे सदा मानवोचित क्रीड़ाएं ही किया करते थे[1] तो उनके द्वारा की गई प्रेम-केलियों का अनुकरण करके हम लोग भी 'तद्भाव' में मग्न क्यों न हो जाया करें। इन्होंने, इसी कारण, अपने साथ, बौद्ध वज्रयानियों की भाँति, 'मञ्जरी' नाम से महामुद्रा स्वरूपिणी सुंदरी युवतियों का रखना आरंभ किया और प्रेम-साधना में प्रवृत्त हुए। इनका दृढ़ विश्वास था कि प्रत्येक पुरुष के भीतर श्रीकृष्ण-तत्त्व वर्त्तमान है और, उसी प्रकार, प्रत्येक स्त्री के भीतर राधा-तत्त्व। यही क्रमशः पुरुष एवं स्त्री का अपना निजी रूप अथवा 'स्वरूप' है और जो प्रत्यक्ष है वह केवल 'रूप' मात्र है। प्रत्येक व्यक्ति को, इसी कारण, चाहिए कि वह अपनी रूपगत साधना द्वारा उस उस स्वरूप में निहित प्रेम-भाव को उपलब्ध करे। इनके विचार से मानवीय प्रेम एवं ईश्वरीय प्रेम में कोई वैसा अंतर नहीं है जो किसी प्रकार दूर न किया जा सके। 'रूप' के ऊपर 'स्वरूप' का आरोप करके प्रेम-साधना की चरम दशा तक प्राप्त कर लेना कुछ असंभव नहीं है। अतएव, कृष्ण एवं राधा उनके लिए, एक प्रकार से 'रस' एवं 'रति' के भी स्थानापन्न बन गए और इन्हें अपने को श्रीकृष्णवत् बना लेना तक सरल हो गया।

[६]

श्रीकृष्ण एवं राधा के पारस्परिक प्रेम का उक्त प्रकार से किया गया वर्णन अथवा उसकी साधना सगुणोपासना में ही संभव है। जो भक्त विविध देवों के

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देह माश्रितः।

भजते तादृशीः क्रीडाः याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्

(श्रीमद्भागवत पुराण—१०-३३-३६)

तथा उस पर श्रीधरी टीका—"श्रृङ्गार रसाकृष्ट चेतसा वहिर्मुखान्यपि स्वपरानि कर्त्तुमितिभावः।"

रूपों तथा भगवान् के अवतारों में विश्वास नहीं करता उसके लिए इस प्रकार की कल्पनाओं का कोई अर्थ नहीं। ऐसे भक्त यदि प्रेम-साधना में प्रवृत्त होना चाहेंगे तो वे अपने इष्ट आत्मतत्त्व को ही प्रेमास्पद का रूप प्रदान कर देंगे और इस प्रकार अद्वैतभाव में भी द्वैतभाव का क्षणिक अनुभव कर उसके प्रेमानंद में मग्न हो जायंगे। ऐसी दशा में, यदि वे चाहें तो उस प्रेमास्पद को (उसका रूप मूर्त एवं सगुण न होने के कारण) अपना पति बना लेंगे अथवा उसे अपनी पत्नी के रूप तक में स्वीकार कर लेंगे। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' के एक स्थल पर[1] ब्रह्मानंद की दशा के स्पष्टीकरण में कहा गया है—"व्यवहार में जिस प्रकार अपनी प्रिया भार्या को आलिंगन करने वाले पुरुष को न कुछ बाहर का ज्ञान रहता है और न भीतर का, इसी प्रकार यह पुरुष भी उस प्राज्ञात्मा द्वारा आलिंगित होने (अर्थात् उसकी अनुभूति में आ जाने) पर न तो कुछ बाहर का विषय जानता है और न भीतर का," इत्यादि, जहाँ पर ब्रह्म की अनुभूति के स्वरूप की तुलना किसी प्राकृत पुरुष द्वारा अनुभूत उसकी पत्नी के आलिंगन-जनित आनंद के साथ की गई है। किसी साधक के अपने साध्य इष्टदेव के साथ मिलन तथा तज्जन्य आनंदानुभूति के इस रूप को सूफ़ियों ने भी अपने ढंग से प्रकट किया है। सूफी लोग भारत में पहले-पहल मुस्लिम देशों से आये थे और इनका मूलधर्म इस्लाम था, किंतु उनमें से कुछ सर्वात्मवाद तथा एकात्मवाद के भी समर्थक थे और इस प्रकार उनकी विचार-धारा का मेल भारतीय दर्शन से भी हो जाता था। सूफ़ी को, सर्व प्रथम, परमात्मा की एक झलक मात्र का अनुभव होता है जिससे आकृष्ट होकर वह उसके लिए बेचैन हो उठता है। वह जानकारों से सहायता अथवा संकेत पाकर उसकी ओर क्रमशः अग्रसर होता है और जैसे-जैसे आगे बढ़ता है उस पर अधिकाधिक मुग्ध होता जाता है। उसे इस बात में दृढ़ विश्वास रहता है कि मै मूलतः उसीका हूँ और उससे किसी प्रकार वियुक्त हो चुका हूँ। उसकी विरहातुरता उसे किसीभी कष्ट को सह लेने को विवश कर देती है और वह अंत तक अपने प्रयत्नों से विरत होने का नाम तक नहीं लेता।

[1] अध्याय ४, ब्राह्मण ३ (२१)

परंतु सूफ़ी लोग अपनी इन बातों का स्पष्ट वर्णन करने की अपेक्षा उसे 'कथाच्छलेन' कहना चाहते हैं। वे दो प्रेमी-प्रेमिकाओं की कहानी लिखते हैं और उसीके माध्यम से अपनी साधना की सभी बातें उदाहृत कर देते हैं। उनकी विशेषता यह है कि प्रेम-पात्र को वे अधिकतर स्त्री रूप ही देना चाहते हैं और साधक का स्थानापन्न किसी पुरुष को बना देते हैं। मध्यकाल के अंतर्गत इन सूफ़ी कवियों ने बहुत सी कहानियां लिखीं जिनमें उनकी प्रेम-साधना का स्पष्टीकरण पाया गया। उनकी यह शैली भी वस्तुतः उसी प्रकार की थी जैसी राधा एवं कृष्ण की प्रेम-केलि का वर्णन करने वाले वैष्णव कवियों की थी। अंतर केवल यही था कि वैष्णवों की रचनाएं अधिकतर फुटकर हुआ करती थीं, उनमें घटना-प्रवाह के विवरण के स्थान पर विविध घटनाओं के वर्णन रहा करते थे और उनके प्रेमी एवं प्रेम-पात्र स्वयं उनके भगवान् तथा उनकी चिर सहचरी रहा करती थी, किंतु सूफियों की प्रेम-कहानियां स्वभावतः प्रबंध-काव्य के रूप में रहती थीं उनमें प्रेमी नायक की चेष्टाओं तथा विरह यातनाओं के प्रसंग भरे रहते थे और उनके नायक एवं नायिका भी प्रायः प्राकृत मनुष्यों में से ही चुने गए रहा करते थे। सूफ़ी लोग ऐसी प्रेम-कहानियों के अंत में कभी-कभी प्रेम-साधना के प्रमुख सिद्धांतों की भी चर्चा कर दिया करते थे। वैष्णवों की फुटकर रचनाओं का क्रम सदा उस दशा में भी बना रह गया जहाँ उन्होंने अपने को प्रेमी वा प्रेमिका के रूप में प्रदर्शित किया। मीरॉबाई ने श्रीकृष्ण की प्रेमिका बनकर केवल फुटकर पदों की ही रचना की और घनानंद तथा रसखान ने इस नियम को प्रेमी बनकर निभाया। रसखान और घनानंद की यह विशेषता रही कि उन्होंने प्रेमास्पद श्रीकृष्ण को सखा-भाव के साथ देखा और वे कांताभाव की चर्चा केवल प्रसंगवश ही करते रहे। इन ऐसे कवियों से बहुत कुछ विलक्षण पद्धति राधावल्लभीय संप्रदाय के प्रवर्त्तक हित हरिवंश की कही जा सकती है। उनकी प्रेमोपासना में राधा की प्रधानता दर्शायी गई, सारी घटनाएं संयोगपरक रखी गईं, और भक्त ने वहाँ राधाकृष्ण-केलि की 'खवासी' मात्र ही किया। हितहरि वंश ने भी जयदेव आदि की भाँति उन केलियों के नग्न चित्र खींचे, किंतु उन्होंने यथासाध्य मर्यादा को भी प्रश्रय दिया।

भगवान् अथवा परमात्मा के प्रति बिना किसी माध्यम के अर्थात् बिना राधा एवं श्रीकृष्ण जैसे अलौकिक प्रेमियों की प्रेम-लीला का वर्णन किये अथवा प्रेम-गाथाओं के आधार पर प्रेम के रहस्य को प्रकट किये, निजी प्रेमानुभूति का स्पष्टीकरण सगुणवादी भक्तों द्वारा बहुत कम हो पाया है और जो हुआ है वह भी अधिकतर दास्य वा सख्यभाव का ही है। दाम्पत्यप्रेम की गहरी अनुभूति का प्रकाशन इनमें से केवल स्त्री भक्त ही कर पाए की हैं जिनकी संख्या अधिक नहीं है। गोदा आड्वार एवं मीराँबाई की पंक्तियां इस संबंध में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं और वे उत्कृष्ट भी हैं। मीराँबाई ने तो जिस प्रकार अपने दाम्पत्यभाव को व्यक्त किया है वह कभी-कभी निर्गुणोपासनापरक भावयोग की कोटि तक पहुँच जाता है और उनकी बहुत-सी उपलब्ध रचनाओं की शब्दावली तक भी वही है जो संत कवियों में देखी जाती है। सच्ची प्रेमानुभूति, वास्तव में, अत्यंत गहरी हुआ करती है और उसकी छाप किसी प्रेमी के जीवन से सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश पर भी बिना पड़े नहीं रह सकती। वह उसे पूर्ण रूप से रँग कर और का और कर देती है और उसमें एक ऐसा काया-पलट ला देती है जो वस्तुतः नितांत नवीन ही कहला सकता है। ऐसा प्रेम उस प्रेमी भक्त में बहुत कम पाया जा सकता है जो अपने प्रेमास्पद को 'भगवान्' की उच्च पदवी से भी विभूषित करता है और उसके निकट अपने को निम्नतर कोटि का मानकर उस तक पहुँचने के प्रयत्न करता है। यह अलौकिक प्रेम केवल वहीं संभव है जहाँ प्रेमी एवं प्रेमास्पद में कोई मौलिक अंतर नहीं और वे दोनों परस्पर घुल-मिलकर एक रूप भी बन सकते हैं। वही दशा वास्तविक 'तन्मयता' की है जिसे उपलब्ध कर प्रेमी अपने प्रेमास्पद का रूप सर्वत्र और सदैव देखने लगता है और उसकी प्रत्येक चेष्टा सर्वथा उसीकी अनुभूति द्वारा अनुप्राणित रहा करती है। 'ईश्वरीय प्रेम वह अजेय मनोवेग है जो निरंतर बढ़ता ही चला जाता है और क्रमशः उन सभी अन्य भावों को आक्रान्त कर लेता है जो किसी भक्त के हृदय में बहुधा पाये जा सकते हैं। वह उन सभीके अंतिम रूप का निर्देशक है'। फ्रेंच दार्शनिक बर्गसां का तो यहाँ तक अनुमान है कि 'प्रेम' का शब्द जिसे कवि और उपन्यासकार बहुत अधिक उपयोग में लाया करते हैं

आध्यात्मिक भावयोगियों से ही उधार लिया गया है।[1]

ईश्वरीय प्रेम के शुद्ध रूप की कुछ झलक हमें उन संतों की साधना में दीख पड़ती है जिन्होंने ज्ञानदेव एवं नामदेव के नेतृत्व में, मध्यकाल के प्रारंभिक उत्तरार्द्ध में, महाराष्ट्र प्रांत में रहकर, भक्तिमयी उपासना की थी और जो पीछे उत्तरी भारत के संतों के भी आदर्श बने। ज्ञानदेव एक विद्वान् व्यक्ति थे और उन्होंने निर्गुणोपासना का निरूपण 'गीता' की 'ज्ञानेश्वरी' टीका द्वारा किया था। परंतु नामदेव एक साधारण कोटि के मनुष्य थे जिनके लिए शास्त्रीय ज्ञान का कोई महत्त्व न था। वे अपने सरल हृदय के भावों में ही मग्न रहा करते थे और उन पर सदा प्रेमोन्माद का प्रभाव जमा रहा करता था। वे "सब गोविंद है, सब गोविंद है, गोविंद बिन नहीं कोई" की धुन में सदा लगे रहते थे और उनके लिए विश्व की प्रत्येक वस्तु उससे ओत-प्रोत थी। संत कबीर साहब ने इसी बात को पीछे अपने अन्य ढंग से तथा कुछ अधिक सजीव भाषा में व्यक्त किया। उन्होंने न केवल अपनी प्रेमानुभूति के स्पष्टीकरण का ही प्रयत्न किया, अपितु उसके प्रभावों द्वारा घटित होने वाले कायापलट की ओर भी संकेत किया। ऐसे नवजीवन को ही वे वास्तविक जीवन अथवा भक्ति के जीवन का नाम दिया करते थे और कहते थे,

'जे दिन गये भगति बिन, ते दिन सालैं मोहि।'

और, उनका अपनी अनुभूति के विषय में भी कहना था—

कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरष्या आइ।
अंतरि भीगी आत्मां, हरी भई बनराइ ॥३०॥
पूरे सूं परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्ही आत्मां, ताथैं सदा हजूरि ॥३१॥[2]

मध्यकालीन प्रेम-साधना की यह चरम सीमा थी जहाँ तक पहुँचने की चेष्टा

---

[1] Dr. V. H. Date. 'The Yoga of the saints' p 192

[2] **'कबीर ग्रंथावली' (गुरुदेव को अंग) पृ० ४**

उनके अनंतर अन्य कई संतों ने भी की। नानक और दादू एवं रैदास जैसे संतों ने अपने जीवन इस काल में ही व्यतीत किये और उस उच्च स्तर को अपना आदर्श-सा बनाये रहे, किंतु उनके पीछे आने वाले संतों में से सभी उसके संतुलन को ठीक न रख सके। मध्यकालीन भारत के अंतिम दिनों की सामाजिक मनोवस्था क्रमशः परिवर्त्तित होती गई और आधुनिक काल के आते-आते प्रेम-साधना का वैसा महत्त्व ही नहीं रह गया।

[७]

मध्यकाल की उपर्युक्त सभी प्रकार की प्रेम-साधनाओं से विलक्षण बाउलों की साधना थी जो बंगाल के निवासी थे। बाउल लोगों का, वास्तव में, कोई संप्रदाय न था और न उनका हिंदू धर्म, इस्लाम अथवा बौद्ध धर्म के साथ कोई प्रत्यक्ष संबंध हो रहा। वे एक विशेष धार्मिक विचार-पद्धति के अनुयायी थे जिसके अनुसार अपना प्रियतम कोई अलौकिक महापुरुष वा परमात्मतत्त्व तक नहीं और न हमारे लिए किन्हीं दो व्यक्तियों के आदर्श प्रेम के माध्यम द्वारा अपनी प्रेम-साधना का अभ्यास करना आवश्यक है। हमारा वास्तविक प्रियतम हमारे अपने हृदय के ही भीतर वर्त्तमान है और जो संभवतः हमारे ही उच्चतम एवं आदर्श मानवीय गुणों का प्रतीक है। बाउल उसे 'मनेर मानुष' अर्थात् हमारे हृदय में प्रतिष्ठित मानव की संज्ञा देते हैं और उसीके प्रति अपने प्रमोद्गार प्रकट किया करते हैं। उन्हें उसके जगन्नियंता, सृष्टि-संहार कारक अथवा अन्य ऐसे गुणों से संपन्न होने से कुछ भी तात्पर्य नहीं। वे उसे व्यक्तिगत मानव के भीतर निवास करने वाले किसी शाश्वत मानव के ही रूप में देखा करते हैं और उसके प्रति अपने को अर्पित कर उसमें तन्मय बना रहना चाहते हैं। उन्हें किसी औपचारिक धर्म के प्रति कोई विशेष आग्रह नहीं और न वे किसी व्यक्ति को अपने से पृथक् वर्ग में मानना ही चाहते हैं। अतएव, उनकी इस प्रेम-साधना को मानवीय धर्म की साधना भी कहा जा सकता है जो वस्तुतः सभी देश एवं काल के अनुकूल है।

मध्यकालीन प्रेम-साधना प्राचीन काल के प्रेम-व्यापार से इस बात में

भिन्न थी कि इसका क्षेत्र यौन-संबंध अथवा पारिवारिक परिधि तक ही सीमित नहीं रहा और न यह केवल व्यक्तिगत मात्र ही कही जा सकती थी। इसके प्रेमास्पद का स्तर बहुत ऊँचा हो गया और इसका भावात्मक रूप भी अधिक शुद्ध, निर्मल एवं निःस्वार्थ बनकर दीख पड़ने लगा। यह प्रत्येक धर्म वा संप्रदाय के अनुयायियों में, उनके आदर्शानुसार पृथक् रूप ग्रहण करता गया, किंतु इसकी उन पद्धतियों में कोई मौलिक अंतर नहीं था। प्रेम-साधना के द्वारा प्रेम-भाव का महत्त्व और भी बढ़ता गया और उसके प्रयोग क्रमशः ठेठ समाज तक में होते दीख पड़े। आधुनिक प्रेम-भाव को न तो हम प्रेम-व्यापार कह सकते हैं और न प्रेम-साधना का ही नाम दे सकते हैं। यह संभवत एक किसी मानवीय प्रेम-पद्धति के रूप में परिवर्त्तित होता जा रहा है जिसे कभी कदाचित् बाउलों की प्रेम-साधना से भी प्रेरणा ग्रहण करनी होगी।